चिन्तामणि

नूपुरैर्विलसत्पादं कौस्तुभप्रभया युतम् ॥
द्युमत्किरीटकटककटिसूत्राङ्गदायुतम् ।
सर्वाङ्गसुन्दरं हृद्यं प्रसादसुमुखेक्षणम् ।
सुकुमारमभिध्यायेत् सर्वाङ्गेषु मनो दधत् ॥

—श्रीमद्भा० ११.१४.४०-४१

कमलादि कर हैं चरण विलसित नित्य नूपुरकी प्रभा ।
कान्ति कौस्तुभकी गलेमें जगमगाती जो लुभा ॥
कंगन किरीट औ करधनी भुजवंद बाँहों में सदा ।
हृद्य चितवन ध्येय मेरा रूप मृदु यह सर्वदा ॥

—भगवान् श्रीकृष्ण

संस्थापक : अनन्तश्रीविभूषित पूज्य स्वामी श्री अखण्डानन्द जी सरस्वती महाराज

★
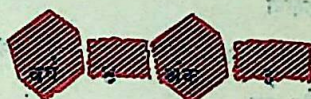
सम्पादक :

ब्र. प्रेमानन्द 'दादा'
विश्वम्भर नाथ द्विवेदी
आनन्दकानन
सी.के. ३६/२०
वाराणसी - १
फोन : २६८३

व्यवस्थापक
सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट,
'विपुल' २८/१६
रिजरोड, मलाबार हिल
बम्बई - ६

विषयक्रम

CHINTAMANI

[ENGLISH]

★ सत्साहित्य पढ़िये ★

१. माण्डूक्य-प्रवचन (आगम-प्रकरण)	६.००
२. माण्डूक्यकारिकाप्रवचन [वैतथ्य-प्रकरण]	५.००
३. श्रीमद्भागवत-रहस्य	२.५०
४. भक्ति-सर्वस्व	५.००
५. भगवान्के पाँच अवतार	२.०० (अप्राप्य)
६. ईशावास्य-प्रवचन	१.२५ (,,)
७. सांख्ययोग	५.०० (,,)
८. भक्तियोग	४.५० (,,)
९. पुरुषोत्तमयोग	२.५०
१०. ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना	६.५०
११. गोपीगीत	३.५०
१२. भागवत-विचार-दोहन	१.००
१३. नारद-भक्ति-दर्शन	६.००
१४. महाराजश्रीका एक परिचय	०.५०
१५. मुण्डकसुधा	२.५०
१६-१७. आनन्द-वाणी भाग १-२	०.५० प्रति (अप्राप्य)
१८-२५. आनन्दवाणी भाग ३-१०	१.०० प्रति
२६. महाराजश्रीका एक परिचय [सिन्धी]	०.२५
२७. मोहन नी मोहनी [गुजराती]	०.६०
२८. चरित्र-निर्माण आणि ब्रह्मज्ञान [मराठी]	१.००
२९. श्रीमद्भागवत-रहस्य [सिन्धी]	२.००
३०. साधना और ब्रह्मानुभूति	३.५०
३१. गोपियोंके पाँच प्रेमगीत	०.२०
३२. श्री उड़ियाबाबाजी और मोकलपुरके बाबा	०.२०
३३. ज्ञान-निर्झर (श्री डोंगरेजी महाराज)	०.३०
३४. क्या साधु कुछ राष्ट्रसेवा कर सकते हैं !	०.२०
३५. अपरोक्षानुभूति-प्रवचन	४.००
३६. कर्मयोग	४.००
37. Glimpses of Life Divine.	1.00
38. Import of The Impersonal.	0.20

★

निम्नलिखित पतेपर पत्र लिखकर अपनी रुचिकी पुस्तकें मँगाइये ।

सत्साहित्य-प्रकाशन-ट्रस्ट

'विपुल' २८/१६ रिजरोड, मलाबार हिल, बम्बई-६

चिन्तामणि

मई, '७०

वर्ष : ४ अङ्क : ३

स्वस्त्ययन

स्वस्तये वायुमुप ब्रवामहै
सोमं स्वस्ति भुवनस्य यस्पतिः।
बृहस्पतिं सर्वगणं स्वस्तये
स्वस्तय आदित्यासो भवन्तु नः ॥

(ऋग्वेद मण्डल ५, सूक्त ५१)

हम नित्यक्षेमकी प्राप्तिके लिए वायुदेवताकी स्तुति कर रहे हैं। साथ ही सोमकी भी स्तुति कर रहे हैं जो कि चतुर्दश भुवनके पालक हैं। सम्पूर्ण लोकका जीवन सोमके अधीन है। वे हमारे लिए स्वस्ति = कल्याणके हेतु बनें। अपने सब गणोंके सहित बृहस्पतिको जो कि कर्म और मन्त्रके रक्षक हैं सबकी स्वस्तिके लिए हम स्तुतिका विषय बनाते हैं। अदितिके सभी पुत्र हमारे लिए कल्याणकारी हों।
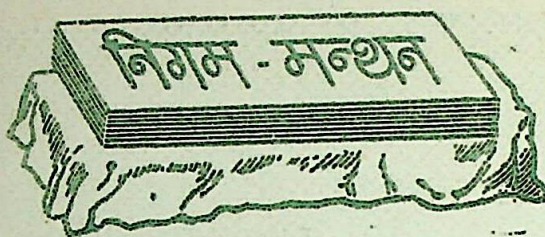
इन्द्र-सूक्त

(ऋग्वेद, मण्डल २, सूक्त १२)

यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत् ।
यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः ॥१॥

सज्जनो ! जो जन्म-सिद्ध रूपसे देवताओंका प्रधान है, मनस्वियोंमें अग्रगण्य है, वह स्वयं तो प्रकाशमान है ही, अपने वृत्रवधादि कर्मोंके द्वारा सभी देवताओंसे आगे बढ़ गया, उनको अपना अंग बनाकर स्वयं अंगी बन गया। जिसके बलसे द्युलोक और पृथिवीलोक भयभीत एवं नियन्त्रित रहते हैं। जो अपनी महती सेनाके बल-महिमासे सम्पन्न है, वह इन्द्र है।

टिप्पणी : इस मन्त्रके भाष्यमें सायणाचार्यने 'बृहद्देवता'से एक इतिहास उद्‌धृत किया है। गृत्समद ऋषिने तपस्याके द्वारा इन्द्रसे तादात्म्य प्राप्त कर लिया। उनका शरीर बहुत बड़ा हो गया। वे इस लोकमें, स्वर्गमें और आकाशमें व्याप्त दीखने लगे। उन्हींको इन्द्र समझकर धुनि और चुमुरिने उनपर आक्रमण कर दिया। ऋषिने उन्हें इन्द्रकी महिमा समझानेके लिए इस सूक्तका गान किया। थोड़े परिवर्तनके साथ यह कथा महाभारतमें भी दी गयी है।

इन्द्र : देवताका यह स्वभाव है कि वह अपने तत्त्वको अपने नाममें छिपाकर रखता है, जिससे अज्ञानी लोगोंके लिए वह परोक्ष ही रहे। विद्वान् पुरुष उसके नामकी व्युत्पत्तिके द्वारा निरावरण कर देते हैं और दिव्य दृष्टिसे उसके द्वारा होनेवाले सब कर्मोंको देखते हैं। इसलिए किसी भी नामकी व्युत्पत्ति बतानेमें विद्वान् लोग बहुत परिश्रम करते हैं और उसका लाभ भी है। इन्द्र अध्यात्म, अधिदैव एवं अधिभूत रूपसे भी एक महत्त्वपूर्ण देवता है। इसलिए उसके नामका अर्थ ठीक-ठीक समझना चाहिए। 'इन्द्र' शब्दमें मूलतः दो अक्षर

हैं—पहला 'इ' और दूसरा 'द'। पहला 'इरा' का 'इ' है और दूसरा दारणार्थक 'दृ' धातुका 'द'। इन्द्र ही वर्षांके द्वारा अन्नको विदारण करके उसे अंकुरित करता है। अन्नका दान करता है अथवा अन्नका धारण करता है। 'दा', 'धा' धातुसे भी 'रक्' प्रत्यय करके 'इन्द्र' शब्द बनता है। 'इराद' अथवा 'इराध'को परोक्ष रूपसे इन्द्र कहते हैं।

'इन्दु' शब्दका अर्थ है—सोम। वह उसके लिए द्रवण (गमन) करता है अथवा उसमें रमता है। इसलिए भी उसकी संज्ञा 'इन्द्र' है। 'इन्ध्' धातुसे भी 'इन्द्र' शब्द बनता है। उसका अर्थ 'दीप्ति' है। वह अधिदैव अथवा अध्यात्ममें स्थित होकर भोजन देकर अथवा अन्नका विभाग करके प्राणियोंको द्युतिमान् बनाता है इसलिए इन्धको ही 'इन्द्र' कहते हैं; क्योंकि यह शरीरके भीतर रहकर प्राणोंके द्वारा सभी इन्द्रियोंको शक्ति देता है। अतः समिन्धन् करनेके कारण भी इसको 'इन्द्र' कहते हैं।

आग्रायणाचार्यके मतमें 'इन्द्र' शब्दका मूल 'इदंकरण' है। 'इदं' शब्दका अर्थ है—सब कुछ। 'करण' शब्दका अर्थ है—करनेवाला। 'इदंकर' को ही 'इन्द्र' कहते हैं। औपमन्यव आचार्यका कहना है कि 'इदं दर्शन'से अथवा 'इदं द्रष्टा' से 'इन्द्र' शब्द बना है। इसका अर्थ होता है—सर्वज्ञ, सर्वदर्शी—सबका द्रष्टा।

परमैश्वर्यवाची 'इदि' धातुसे 'इन्द्र' शब्द निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है—परमेश्वर। शत्रुका दारण करनेवाला अथवा द्रावण करनेवाला इन्द्र है। वह याज्ञिकोंका आदर भी करता है।

जात : इन्द्रको 'जात' कहनेका अभिप्राय है कि यह ईश्वरका सगुण रूप है। परमात्माका अजात रूप है—ब्रह्म। वह निर्गुण है। 'जात'का अर्थ है—मायासे अवच्छिन्न, मायामें प्रतिबिम्बित अथवा मायामें आभास। सृष्टिका कर्तृत्व, अनेक रूपोंमें उपास्यत्व, भक्तोंपर अनुग्रह, उपासकोंका संकट दूर करना और उनके मनोरथ पूर्ण करना—यह सब इसी 'जात' ब्रह्मका काम है। वह वस्तुतः अजन्मा रहकर ही जात होता है—'अजायमानो बहुधा व्यजायत', 'स उ श्रेयान् भवति जायमानः'। उपासकोंका कल्याण करनेवाला यही ईश्वरका उपास्य रूप है।

पर्यभूषत् : इस क्रियापदका अर्थ है—स्वयं स्वामी होकर सब देवताओंको अनुग्राह्य रूपसे स्वीकार किया—पर्यगृह्णात्। दूसरा अर्थ है—सबकी रक्षा की—पर्यरक्षत्। तीसरा अर्थ है—प्रभावसे सबके आगे बढ़ गया—अत्याक्रामत्। चौथा अर्थ है—सबको पराभूत कर दिया—पर्यभवत्। पाँचवा अर्थ है—सबको

अलंकृत कर दिया। क्रियापद चाहे कुछ भी हो, सबका अर्थ है वह देवताओंसे अधिक प्रभावशाली है।

शुष्म : 'शुष्म' शब्दका अर्थ है—शरीर अथवा बल।

अभ्यसेताम् : यह 'भ्यस्' धातुका रूप है जिसका अर्थ भय और कम्पन है।

सम्पूर्ण मन्त्रका अभिप्राय है कि तुम लोग ऐसे परमेश्वर इन्द्रका विरोध मत करो, उसके प्रति प्रीति करो।

यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद् यः पर्वतान् प्रकुपिताँ अरम्णात्।
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तम्नात् स जनास इन्द्रः ॥२॥

जिसने फूटती या बिखरी हुई पृथिवीको पाषाण-खण्डोंसे दृढ़ कर दिया, उसका संवर्द्धन किया और जिसने इधर-उधर दौड़ते-भागते हुए पर्वतोंको नियत करके अपने-अपने स्थानपर स्थिर कर दिया; जिसने विशाल अन्तरिक्षको उत्तम बनाकर स्थापित किया, साथ ही जिसने द्युलोकको स्तम्भित करके आकाशमें निरुद्ध कर दिया, वह इन्द्र है।

टिप्पणी : व्यथमान : जैसे शरीरमें व्यथा होनेपर वह फूटने या बिखरने लगता है, वैसे ही पृथिवी व्यथित, स्फुरित या विकीर्ण हो रही थी।

अदृंहत् : 'दृह' और 'दृहि' दोनों धातुएँ वृद्धिके अर्थमें हैं। इकारान्त धातुका रूप अदृंहत् है। उसका अर्थ है—संवर्द्धन करना, दृढ़ करना।

अरम्णात् : यह 'रमु क्रीडायाम्' का ही रूप है। इसमें 'णि'का अर्थ अन्तर्भावित है। व्यत्ययसे 'श्ना' प्रत्यय हुआ।

स्तभ्नात् : यह 'स्तम्भु रोधने' धातुका रूप है। इसका अर्थ है—रोकना, निरुद्ध करना।

इस पूरे मन्त्रमें इन्द्रके विश्वहितकारी रूपका वर्णन है। वह सबके भीतर रहकर सबका हित करता है। 'अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्।'

यो हत्वाहिमरिणात्सप्त सिन्धून्यो गा उदाजदपधा वलस्य।
यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान संवृक्समत्सु स जनास इन्द्रः ॥३॥

जिसने अहि अर्थात् सर्पसदृश वृत्तको मारकर सात सिन्धुओंको प्रवाहित किया है, जिसने बल, असुरके द्वारा निरुद्ध गायोंको मुक्त किया है, जिसने अन्तरिक्षव्यापी मृदु मेघके संघर्षसे विद्युत् उत्पन्न कर दिया और जिसने आयुका भक्षण करनेवाले संग्रामोंमें वीरोंका मारण किया, वह इन्द्र है।

टिप्पणी : ऋग्वेदके अनेक मन्त्रोंमें इन्द्र और वृत्रके युद्धका प्रसंग आता है। 'वृत्र' शब्दका अर्थ है—आवरण करनेवाला। वह जलको आवृत करता है। उसका एक नाम 'अहि' भी है। इन्द्र इसका संहार करता है। यह वृत्र जलमें दीर्घ निद्रात्मक मृत्युके रूपमें सोता रहता है। यह बहते हुए जलको अपने शरीरकी वृद्धिको रोक देता है। यह एक ऐसा आवरण है जिससे दुर्भिक्ष और अवर्षण होता है। यही अज्ञानान्धकार भी है। वह सत्‌के लिए मरण-विवर्त, चित्‌के लिए अज्ञान-विवर्त और आनन्दके लिए दुःख-विवर्त है। इसी वृत्ररूप आवरणके कारण संसारमें लोग अपनेको मरणशील, भ्रान्त एवं दुःखी मानते हैं। यह सर्पवत् दुःखदायी है। इसलिए मूलमन्त्रमें इसको 'अहि' कहा गया है।

ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें वृत्रको आच्छादक, पाप्मा, मेघ, शत्रुसेना, धर्म-ध्वंसी, जलरोधक, कुटिल, अज्ञान, आवरण आदि नामसे स्मरण किया गया है।

सप्तसिन्धु : इसका अर्थ गंगा-यमुना आदि सात नदी करते हैं। भारतीय दृष्टिसे यह ठीक भी है परन्तु यह काम इन्द्र करता है इसलिए भारतीय दृष्टिसे नहीं, सम्पूर्ण विश्वकी दृष्टिसे होना चाहिए। ऐसी दृष्टिवाले हिन्द, प्रशान्त आदि सात महासागरोंका वर्णन मानते हैं। यदि पौराणिक और वैज्ञानिक दृष्टिसे वेदार्थका उपबृंहण किया जाय तो वातावरणमें व्याप्त सात रसोंके सात समुद्र इसका अर्थ होना चाहिए। 'सात' शब्दका अर्थ केवल सात संख्या न लेकर 'बहुत'के अर्थमें ग्रहण करना उचित होगा। न केवल जिह्वासे गृहीत होनेवाले रस प्रत्युत पाँचों इन्द्रियोंसे, मनकी तदाकारतासे और मनकी शान्तिसे भी अनुभूत होनेवाला रस होना चाहिए। उपाधिके भेदसे एक ही रस अनेक प्रकारसे प्रतीत होता है। कुटिल वृत्रासुर आवरण—रसानुभूतिका बाधक है। इन्द्र इनके द्वार खोल देता है। इन्द्र कर्म और पौरुषका देवता है।

अरिणात् : यह पद 'रीङ्' धातुसे बना है। इसका अर्थ है—बहना। क्र्यादि। इन्द्रने रसस्रोतको प्रवाहित किया।

गाः : संस्कृत भाषाका 'गो' शब्द निरुक्तके अनुसार अनेक अर्थोंका वाचक है। इसके द्वितीया बहुवचनमें 'गाः' शब्द बनता है। सामान्यरूपसे कहा जाता है कि एक बल नामका असुर था। उसने गायोंको गुहामें निरुद्ध कर रक्खा था। इन्द्रने वहाँसे उन्हें निकाला। थोड़ी गम्भीरतासे देखें तो ज्ञात होगा कि 'बल' शब्दका अर्थ है—शरीर-बल, जन-बल, धन-बल, अधिकार-बल आदि। गायका अर्थ है—भूमि, पशुधन, भोग्य अन्नादिरूप धन। बोलनेका स्वातन्त्र्य भी इसीमें सम्मिलित है; क्योंकि 'गाय' शब्दका अर्थ 'वाणी' भी है। बलवान् असुरोंने इनको रोक रक्खा था, निरुद्ध कर रक्खा है। 'अपवा' शब्दका यही

अर्थ है। इन्द्रने उनके पंजेसे मुक्त करके इन्हें सर्वसाधारणके लिए सुलभ कर दिया। 'उदाजत्' क्रियापदका अर्थ 'निरगमयत्' है। इसका अभिप्राय है—निकाल देना या हाँकना।

'बल' शब्दका दूसरा अर्थ है—अनात्मपदार्थसे तादात्म्य करके उसको मैं-मेरा मानना। यही होनेपर अन्तःकरण, इन्द्रिय और विषयोंको अपना मानकर बन्धन होता है। इन्द्र इसने अहंकार—ममकारसे आवद्ध विषयोंसे आत्माको मुक्त करता है—ऐसा समझना चाहिए।

अश्मा : इस शब्दको व्याप्ति-सूचक 'अश्' धातुसे निष्पन्न करके सायणाचार्यने अन्तरिक्षव्यापी मेघ अर्थ किया है। 'अश्मा' शब्दका अर्थ 'पाषाण-खण्ड' भी होता है। मृदु मेघके संघर्षसे बिजली और कठोर पाषाणके संघर्षसे अग्नि उत्पन्न होता है। यह इन्द्रका ही कोई चमत्कार है। कोमल उपासना और कठोर योगाभ्यास भी ज्ञानाग्निके जन्ममें कारण बनते हैं।

समद् : योद्धा वीरोंकी आयुको जो खा जाय उसे समद् अर्थात् संग्राम कहते हैं। उसका बहुवचन 'समत्सु' पद है।

संवृक् : यह हिंसार्थक शब्द है। 'वृणक्ति हिनस्ति' इति वृणक्। इसीमें 'सम्' उपसर्ग लगाकर 'ण' का लोप करके बना है। वेङ्कटनाथने इसका अर्थ 'छेत्ता' किया है। यह 'वृज्' और (व्रश्च्) दोनों धातुओंसे बनता है। साधनाकालमें काम-क्रोधादि शत्रुओंका नाश यही करता है।

येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि यो दासं वर्णमधरं गुहाकः।
श्वघ्नीव यो जिगीवां लक्षमाददर्यः पुष्टानि स जनास इन्द्रः ॥ ४ ॥

जिसने यह विश्व नश्वर बनाया है अथवा नश्वर विश्वको दृढ़ बनाया है; जिसने दूसरोंको हानि पहुँचानेवाले लोगोंको नरकमें डाल दिया है, जिसने अपने लक्ष्यको प्राप्त किया है, जिसने शत्रुओंकी समृद्धिको छीन लिया है ठीक वैसे ही, जैसे व्याध अपने इच्छित मृगको पकड़ लेता है, सज्जनो! वही इन्द्र है।

टिप्पणी : **च्यवना कृतानि :** सायणाचार्यने 'नश्वर भुवनोंको स्थिर किया है'—ऐसा अर्थ लिखा है। वेङ्कटनाथने 'भुवनोंको नश्वर बनाया है'—ऐसा अर्थ किया है। ऋग्वेदके एक दूसरे मन्त्रमें आया है—'यस्ता विश्वानि चिच्युषे' (४।३०।२२) [जिसने सम्पूर्ण विश्वको हिला दिया है] इससे यह सिद्ध होता है कि संसारमें राग-द्वेष नहीं करना चाहिए।

दासं वर्णम् : 'दास' शब्द यहाँ उसी धातुसे बना है जिससे 'दस्यु' बनता है। सायणने इसका अर्थ 'उपक्षपयिता' लिखा है और वेङ्कटनाथने

'वारयिता'। जो दूसरोंके हितको हानि पहुँचाये अथवा किसीकी उन्नतिमें रुकावट डाले। इन्द्र उस पापीको नरकमें डालता है। अधर्मका फल दुःख है। ऋग्वेदमें 'वर्ण' शब्दका अनेक अर्थोंमें प्रयोग हुआ है। यहाँ आध्यात्मिक दृष्टिसे 'दासं वर्णम्'का अर्थ दुःखदायी अज्ञानान्धकार ही है। उसको गुहामें ढकेल देनेका अर्थ यह है कि इन्द्रने उसको दूर कर दिया।

श्वघ्नी : 'श्वभिर्हन्ति' जो कुत्तोंके द्वारा शिकार करे—व्याध-लुब्धक।

जिगीवान् : यह 'जि जये' धातुका रूप है। इसका अर्थ है—जीत लिया।

अर्यः : यह 'अरेः' का वैदिक रूप है।

यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्।
सो अर्यः पुष्टीर्विज इवा मिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः॥ ५॥

सज्जनो! इन्द्र वह है, जिसको आँखोंसे न देखकर लोग पूछा करते हैं—'वह कहाँ है? अरे वह तो बड़ा भयंकर है? इसको न माननेवाले लोग ऐसा कहा करते हैं कि यह इन्द्र सर्वथा है ही नहीं। वह अपने न माननेवालोंके प्रति उद्वेजक-सा बनकर उन शत्रुओंके पोषक-धनको सर्वथा नष्ट कर देता है, इसलिए तुम लोग इस इन्द्रके प्रति श्रद्धा करो। वह नहीं दीखता है तो क्या हुआ? उसपर विश्वास करना ही कल्याणकारी है।

टिप्पणी : अदृश्य होनेके कारण इन्द्रको न मानना मूर्खता है। उसके सम्बन्धमें जिज्ञासा आवश्यक है। उसपर विश्वास न करनेसे जीवका अकल्याण होता है। अन्तरसे पुष्टि-तुष्टिका मिलना बन्द हो जाता है। ऋग्वेदमें इस प्रकारका एक दूसरा मन्त्र भी मिलता है, जिसमें उल्लेख है कि कोई-कोई कहते हैं कि इन्द्र नहीं है (८।१००।३)। 'इन्द्र' शब्दका अर्थ ईश्वर ही है। आस्तिकताके समान नास्तिकता भी अनादि है। नास्तिकके जीवनमें आन्तरिक सुख-शान्तिके लिए कोई आधार नहीं है। आस्तिक ईश्वरका आलम्बन लेकर अपना परम कल्याण करता है।

श्रद् धत्त : श्रद्धा करो, विश्वास करो। वेदोंमें श्रद्धाको बड़ी महिमा है। यह अन्तःकरणकी उत्तम सम्पत्ति है। ऋग्वेदमें एक श्रद्धा सूक्त है जो 'चिन्तामणि'के प्रथम वर्षके प्रथमांकमें प्रकाशित हो चुका है। यजुर्वेदमें कहा गया है कि 'श्रद्धासे सत्यकी प्राप्ति होती है।' जिसको अपने लक्ष्यपर श्रद्धा नहीं होगी, वह उसकी खोज या प्राप्ति नहीं कर सकता। परमार्थ-मार्गमें श्रद्धा-वित्त ही सम्बल है। उपनिषदें कहती हैं—'श्रद्धत्स्व सौम्य।'

किसी भी वस्तुकी सिद्धिके लिए लक्षण और प्रमाण—दोनोंकी आवश्यकता होती है। प्रमाण प्रमातामें रहकर वस्तुकी पहचान कराता है और लक्षण लक्ष्य वस्तुमें रहकर औरोंसे उसको अलग दिखाता है। जैसे आँखरूप-प्रमाण मनुष्यके पास रहता है और गायका लक्षण 'गलेमें ललरी होना' उसके शरीरमें होता है। महावाक्यजन्य-वृत्ति मनुष्यके अन्तःकरणमें होती है और सत्य-ज्ञानादि ब्रह्ममें रहते हैं। किसी भी वस्तुमें लक्षण वह होता है जो उसके सिवाय दूसरी वस्तुमें न हो। प्रमाण भी वही होता है जो अन्य प्रमाणसे अनधिगत और अबाधित अर्थका ज्ञान कराये। धर्म एक अतीन्द्रिय पदार्थ है; इसलिए पहले हम इसके लक्षण-पर ही विचार करते हैं।

१. नास्तिक दर्शनोंमें सर्वप्रथम चार्वाक दर्शनकी ही गणना होती है। उसके मतमें देहातिरिक्त आत्माका अस्तित्व नहीं है। प्रत्यक्षके अतिरिक्त कोई प्रमाण भी नहीं है। अतः उसके लिए स्वाभाविक है कि लौकिक जीवन-में अर्थ-संग्रह, भोग-वैशिष्ट्य, आधि-पत्य, यश, उत्कर्ष आदि प्राप्त करना ही कर्मका लक्ष्य हो सकता है। इसलिए वह पुनर्जन्मवादी और परलोकवादी जिस अर्थमें 'धर्म' शब्दका प्रयोग करते हैं वह उसके लिए नहीं हो सकता। वह यदि परिच्छिन्न स्वार्थसे ऊपर उठकर कोई कर्म करता भी है तो भी उसका उद्देश्य लौकिक

ही होता है। उस लौकिक-कर्मका उद्देश्य भी देह तक ही सीमित

होता है। उसकी दृष्टिमें 'धर्म' लौकिक जीविकाका साधनमात्र है। उससे मनुष्यके मनमें अन्धविश्वास, भय, परावलम्बन तथा झूठी आशाका जन्म होता है। इसलिए यदि हम बलात् उसके सिरपर धर्मका आरोप करें तो यह कहना पड़ेगा कि व्यक्तित्वका जिस कर्मसे लौकिक उत्कर्ष सिद्ध हो, वही 'धर्म' है।

जैन सम्प्रदायमें देहातिरिक्त आत्माको स्वीकार करते हैं। पुनर्जन्म और परलोक भी मानते हैं। प्रत्यक्षके अतिरिक्त अनुमान और अपने आगमों-को भी स्वीकार करते हैं। इन्होंने

महाराजश्री

धर्मका एक सूक्ष्म पदार्थके रूपमें अध्ययन किया है। ये कहते हैं कि धर्मके परमाणु होते हैं। पुण्य-विशेषके अनुष्ठानसे उनका निर्माण होता है। जैन-सम्प्रदायमें उन्हें पुद्‌गल कहते हैं। उनके द्वारा धर्मात्माके शरीरकी रचना होती है और वह सुख, संयम-प्रधान होता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि **पुण्यविशेषसे निर्मित देहारम्भक, पुद्‌गल नामक परमाणुओंको ही 'धर्म' कहते हैं।** पुण्य हो धर्म नहीं है, उससे उत्पन्न परमाणु धर्म हैं। इससे यह प्रेरणा मिलती है कि हमें पुण्य-कर्म करना चाहिए।

बौद्ध सम्प्रदायमें 'धर्म' शब्द बहुत ही व्यापक अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। उनके मतमें आत्मा, विज्ञान—सब क्षणिक है। और अन्ततः सबका उच्छेद—शून्यता ही निर्वाण है। पाँचों स्कन्धोंको ही वे धर्म कहते हैं। प्रचलित भाषामें कहना हो तो व्यवहारमें अहिंसा और निर्वाण-प्राप्तिके उपायमात्रको धर्म कहते हैं। उत्तर ज्ञानमें जो पूर्व ज्ञानकी वासना आती है उसको धर्म कहते हैं। ज्ञान क्षणिक हैं। वे जब नष्ट होते हैं तब अपनी एक वासना छोड़ जाते हैं। वह भी ज्ञानके साथ बदलती ही रहती है। हमारे इस विज्ञान-सन्तान परम्परात्मक जीवनमें जो आर्य-सत्यके—ज्ञानके अनुसार अर्थात् बुद्धके अनुभवके अनुसार वासनाएँ उत्पन्न होती हैं वही धर्म हैं। दुःख, क्षणिकता, स्वलक्षण और शून्य—ये चारों आर्य सत्य हैं। जब इनके अनुभवके **अनुकूल ज्ञान-धारा प्रवाहित होने लगती है, तब उसको 'धर्म' कहते हैं।**

२. न्यायदर्शनके प्रणेता गौतमके मतमें धर्म आत्माका एक विशेष गुण है। वह विहित कर्मसे अथवा शुभ प्रवृत्तिसे उत्पन्न होता है। उसे अदृष्ट भी कहते हैं। मनुष्यके जीवनमें दोष-मूलक प्रवृत्तियाँ होती रहती हैं। कहीं राग नचाता है तो कहीं क्रोध उद्दण्ड बना देता

है, तो कहीं मोह बाँध देता है। इनके कारण मनुष्य संसारकी वस्तुओंमें फँस जाता है और अन्धा, क्रूर तथा पक्षपाती हो जाता है। यही अधर्मका मूल है। जब मनुष्य इनसे बचकर ऐसे कर्म करने लगता है जिनसे वह कायिक, वाचिक एवं मानसिक दस प्रकारके पापोंसे बचकर दस प्रकारके धर्मके अनुष्ठानमें लग जाय तो वह नीचे न जाकर ऊर्ध्व गतिको प्राप्त हो और अविद्यासे मुक्त होकर जन्म और दुःखसे भी सर्वदाके लिए छूट जाय। वे दस पाप ये हैं जिनसे मनुष्य धर्म-विमुख हो जाता है—

(१) मुझे दूसरेका धन कैसे मिल जायगा—ऐसा चिन्तन।

(२) मनसे निषिद्ध कर्म करनेकी आकांक्षा।

(३) नरक-स्वर्ग, पुनर्जन्म, जीव-ईश्वरको कौन जानता है। यह देह ही सब कुछ है—ऐसा मान बैठना।

(४) कठोर बोलना।

(५) मिथ्या भाषण करना।

(६) दूसरेकी निन्दा करना।

(७) निष्प्रयोजन वार्ता करना।

(८) विना दिये किसीकी वस्तु ले लेना।

(९) तन, मन और कर्मसे किसीको दुःख पहुँचाना।

(१०) परस्त्री और परपुरुषके साथ सम्बन्ध होना।

इन दसोंका परित्याग कर देनेपर वृत्ति अन्तर्मुख हो जाती है। वृत्तिका आत्म-सामीप्य ही धर्मकी उत्कृष्ट अवस्था है।

३. वैशेषिक दर्शनके प्रणेता महर्षि कणादका मत है कि जिस कर्मसे मनुष्य इस लोकमें अभ्युदय और अन्तमें निःश्रेयस प्राप्त कर लेता है, उसका नाम धर्म है। महर्षिने ऐहलौकिक उन्नतिको धर्मके साथ जोड़कर लोकका बहुत बड़ा कल्याण किया है। वस्तुतः धर्म केवल अगला जन्म सुधारनेके लिए, स्वर्गमें पहुँचानेके लिए, ईश्वरकी प्राप्तिके लिए अथवा अन्तःकरण-शुद्धि द्वारा ब्रह्मानुभूतिके लिए उपयोगी हो—ऐसी बात नहीं है। धर्मात्मा पुरुषपर प्रजाका विश्वास बढ़ता है। इसलिए लोग उसपर विश्वास करते हैं और उसका आश्रय लेते हैं। 'लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति।' व्यापारी जब लोगोंका विश्वासपात्र होता है तब उसका व्यापार चलता है। जब लोग जान जाते हैं कि यह झूठा, ठग, बेईमान है तब उससे व्यवहार करनेमें डरते हैं। इसका अर्थ हुआ कि धर्मात्माको अर्थकी प्राप्ति होती है। धर्मात्मा पुरुष संयमके द्वारा काम-भोगको नियममें रखकर स्वयं अपने शरीर और मनको स्वस्थ रखता है। दीर्घकालतक भोग भोगता है और दूसरोंको हानि

नहीं पहुँचाता। पदार्थोंके धर्मकी परीक्षामें प्रवृत्त होकर कणादने मनुष्यके धर्मकी भी उत्कृष्ट रूप-रेखा बता दी है। जैसे धर्मके विना पदार्थका पदार्थत्व ही नष्ट हो जाता है; इसी प्रकार धर्मके विना मनुष्यका मनुष्यत्व ही नष्ट हो जाता है। धर्मसे सब कुछ सिद्ध हो सकता है।

४. सांख्यप्रणेता कपिलने **सत्कर्म-जन्य अन्तःकरणकी एक विशेष वृत्तिको धर्म माना है।** बात यह है कि यह वस्तुतः असंग आत्मा अविवेकके कारण प्रकृति-प्राकृत पदार्थोंमें 'अहं', 'मम' (मैं-मेरा) करके बद्ध हो गया है। विवेक-ख्यातिके विना यह त्रिगुणमयी प्रकृतिके बन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता। विवेकका उदय होता है—सत्त्वगुणकी स्थितिमें। जिस शारीरिक, मानसिक अथवा बौद्धिक कर्मके द्वारा अन्तःकरणमें वैराग्य, शान्ति आदिका उदय हो और विवेकका प्रकाश हो, उसीको धर्म कहते हैं। थोड़े शब्दोंमें, यह कह सकते हैं कि प्रकृतिके विकार-विलाससे अनासक्त करके पुरुषको अपने स्वरूप-बोधके अनुकूल अन्तःकरणको निर्मित करनेवाला कर्म ही धर्म है।

५. योगाचार्य पतञ्जलिके मतमें, **वृत्तिको क्लेशानुवेध से बचाकर, समाधिके उपयुक्त बनाने और पुरुषको निरोधोन्मुख करके स्वरूपावस्थित करनेमें सहायक जो कर्म हैं—उसे धर्म कहते हैं।**

योगदर्शनके मतमें मन ही बन्धन और मोक्षका कारण है। सब वृत्तियोंका यही आधार है। सब कर्मोंके संस्कार भी अन्तःकरणमें ही सञ्चित होते हैं। वृत्तियाँ दो प्रकारकी होती हैं—क्लेश-युक्त, जिन्हें 'क्लिष्ट' कहते हैं और क्लेशरहित, जिन्हें 'अक्लिष्ट' कहते हैं। क्लेश पाँच प्रकारके होते हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। जो साधन या कर्म—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि अक्लिष्ट वृत्तिके पोषक हैं, वे पुरुष-ख्याति और कैवल्यके अनुरूप हैं। इस मतमें उन्हें ही धर्म माना जाता है। उनमें शौच, तपस्या, ईश्वरप्रणिधान, मैत्री, मुदिता, आदिको परिगणना है। योगदर्शनके मतमें निरोधानुकूल अनुष्ठेय कर्म ही धर्म है।

६. पूर्वमीमांसाके प्रणेता जैमिनि के मतमें **धर्म उसे कहते हैं जिसे वेदने हमारे कल्याणके साधनके रूपमें वर्णन किया है, वह यागादि रूप क्रिया-कलाप।** वेदमें यज्ञ-यागादिको ही धर्म कहा गया है। अन्यत्र भी अनुष्ठेय रूपमें धर्मका वर्णन मिलता है। उपनिषद् 'धर्मं करो'—ऐसी आज्ञा देते हैं। हमारे प्राचीन महर्षि कहते हैं कि 'यं त्वार्य्याः क्रियमाणं प्रशंसन्ति स धर्मः

-यं गर्हन्ते सोऽधर्म इति।' इससे भी धर्म वेदविहित क्रिया-रूप ही सिद्ध होता है। कुमारिल भट्टने विभिन्न आचार्योंके द्वारा परिभाषित धर्मका उल्लेख करके उनका खण्डन भी किया है।

अन्तःकरणवृत्त्यादौ
वासनायां च चेतसः।
पुद्गलेषु च पुण्येषु
नृगुणेऽपूर्वजन्मनि॥

साथ ही—

श्रेयो हि पुरुषप्रीतिः
सा द्रव्यगुणकर्मभिः।
चोदनालक्षणैः साध्या
तस्मात्तेष्वेव धर्मता॥

पूर्वमीमांसाके एकदेशियोंका मत है कि यागादिके अनुष्ठानसे जो अपूर्वकी उत्पत्ति होती है उसको धर्म कहते हैं; क्योंकि कर्मानुष्ठान और फल-प्राप्तिके बीचमें जो व्यवधान होता है उसमें अपूर्वके रूप विद्यमान धर्म ही फल उत्पन्न करता है।

७. वेदान्त-दर्शनके प्रणेता व्यासके मतमें—**अन्तःकरणकी शुद्धिके साधक कर्मको ही धर्म कहते हैं।** धर्मानुष्ठानसे उच्छृङ्खल कर्मपर नियन्त्रण स्थापित होता है। वासनाएँ मर्यादित होती हैं। वेद-वचनपर श्रद्धा होती है। कर्त्तव्याकर्त्तव्यकी मीमांसासे विवेक-शक्ति बढ़ती है। देहातिरिक्त आत्माकी ओर ध्यान जाता है। धर्मके द्वारा आराध्य दैवी शक्तियोंका ज्ञान होता है। धर्मके न्यूनाधिक्यके अनुसार पितृलोक, देवलोक, ब्रह्मलोक, आदि का विचार होता है। फलदाता ईश्वर है—इसपर विश्वास होता है। धर्मका निष्काम अनुष्ठान करनेपर निष्कामताकी प्रतिष्ठा होती है। वस्तुतः अन्तःकरणका जागरूक रहकर निष्काम होना ही उसकी शुद्धि है। शुद्धिसे वैराग्य और जागरूकतासे विवेकका उदय होता है।

व्यासाचार्यने **लोकहितकारी कर्मको भी धर्म कहा है।** उनका अभिमत है कि प्रबुद्ध पुरुष अन्वय-व्यतिरेक दृष्टिसे हिताहितका विचार करके जो कर्म करता है वह लोक-कल्याणकारी होता है। इस प्रकारके धर्म-विचारमें साधारण मनुष्यका अधिकार नहीं है। क्योंकि वह अपने विवेकको वासनाओंसे अभिभूत कर देता है। इसलिए इस सम्बन्धमें सावधान रहना चाहिए कि किसी निषिद्ध कर्मको लोकहितकारी न समझ लिया जाय।

८. धर्माचार्य मनुने **जीवनमें दस पदार्थोंके धारणको धर्म कहा है।**

१. धृति—धनादिका नाश होनेपर चित्तमें धैर्य बना रहना (—मेधातिथि)। प्रारम्भ किये हुए कर्ममें बाधा और दुःख आनेपर भी उद्विग्न न होना (—सर्वज्ञ नारायण)। सन्तोष रखना (—कुल्लूक भट्ट एवं

गोविन्दराज)। अपने धर्मसे स्खलित न होना (राघवानन्द)। अपने धर्मको कभी न छोड़ना (—नन्दन)। अनुद्विग्न भावसे कर्तव्यका पालन (—रामचन्द्र)।

२. क्षमा—दूसरेके अपराधको सह लेना (—मे० ति० तथा गो० रा०) क्रोधोत्पत्तिके कारण उपस्थित होनेपर भी क्रोध न करना (—स० ना०)। किसीके अपकार करनेपर बदला न लेना (—कु०)। द्वन्द्वसहिष्णुता (—राघवानन्द)। अपमान सह लेना (—नन्दन)। शान्ति (—राम०)।

३. दम—उद्दण्ड न होना। तपस्या करनेमें जो क्लेश हो उसे सह लेना। विकारके कारण उपस्थित रहनेपर भी मनको निर्विकार रखना। मनको रोक रखना। मनको मनमानी न करने देना। द्वन्द्वसहिष्णु होना।

४. अस्तेय—दूसरेकी वस्तुमें स्पृहा न होना। अन्यायसे परधनादिका ग्रहण न करना। परद्रव्यको न लेना।

५. शौच—आहारादिकी पवित्रता। स्नान-मृत्तिकादिसे शरीरको शुद्ध रखना। शास्त्रकी रीतिसे शरीरको शुद्ध रखना। बाह्याभ्यंतर-पवित्रता।

६. इन्द्रियनिग्रह—इन्द्रियोंको विषयोंमें प्रवृत्त न करना। नेत्रादि इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे अलग रखना। जितेन्द्रिय होना।

७. धी—भलीभाँति समझना। प्रतिपक्षके संशयको दूर कर सकना। आत्मोपासना। शास्त्रके तात्पर्यको समझना। बुद्धिका अप्रतिहत होना।

८. विद्या—आत्मानात्मविषयक विचार। बहुश्रुत होना। आत्मोपासना।

९. सत्य—मिथ्या और अहितकारी वचन न बोलना। यथार्थ बोलना। अपनी जानकारीके अनुसार ठीक बोलना।

१०. अक्रोध—क्षमा करनेपर भी कोई अपकार करे, तब भी क्रोध न करना। दैववश क्रोध उत्पन्न होनेपर उसको रोकनेका प्रयत्न। क्रोधका कारण होनेपर भी क्रोध न होना। अपने मनोरथमें बाधा डालनेवालोंके प्रति भी चित्तका निर्विकार रहना।

किसी-किसी पुस्तकमें धीके स्थानपर ह्रीका उल्लेख है। उसका अर्थ है कि अकर्तव्यसे निवृत्त करनेवाला ज्ञान-विशेष। निषिद्ध कर्म करनेमें लज्जा आना। अपनेको अकर्त्तव्यसे बचाना।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं
शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो
दशकं धर्मलक्षणम्॥

मनुस्मृतिमें ये सब धर्म-लक्षण स्थान-स्थानपर बिखरे हुए हैं। मनुजीने स्वयं इनको समेटकर स्पष्टम् स्पष्टम् समझा देनेके लिए इकट्ठा करके वर्णन किया है।

९. महाभारतके मतसे धर्म वह वस्तु है जो प्राणिमात्रके भरण-पोषण-धारण अर्थात् योगक्षेम-विधानमें समर्थ हो। अभिप्राय यह है कि यह मनुष्य-जीवन प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है। यह जन्म प्राप्त करके यदि मनुष्यत्वकी रक्षा न की जाय तो पुनः जडत्वकी प्राप्ति हो जाती है। धर्म इसकी चेतनताको प्रबुद्ध करता है, जगाता है। अधर्म जडताकी ओर झोंकता है। प्राप्त मनुष्यत्वकी रक्षा और प्राप्तव्य परमेश्वरकी प्राप्ति धर्मके द्वारा ही होती है। वस्तुतः यही योगक्षेम है। धर्म केवल मनुष्यत्वका ही रक्षक नहीं है, मनुष्यमें रहकर प्राणि-मात्रका रक्षक है। इसीसे मनुष्यके व्यवहारमें दूसरे प्राणियोंके प्रति हिंसाभावका निषेध है। वस्तुके वस्तुत्वको सुरक्षित रखना और विकसित करना धर्मका काम है।

धारणाद् धर्मं इत्याहु-
धर्मो धारयते प्रजाः।
यस्स्याद् धारणसंयुक्तं
स धर्म इति निश्चयः॥

१०. भरद्वाज ऋषिके मतमें जिस कर्मसे तमोगुणका ह्रास और सत्त्वगुणका प्रकाश हो उसे धर्म कहते हैं। अनेक मतोंमें त्रिगुणके द्वारा ही समग्र सृष्टिकी व्याख्या की गयी है। तम और सत्त्वके बीचमें रजोगुण पड़ता है। यही ज्ञानको वासनासे रँगता है और तमोगुणको बढ़ाकर आलस्य, निद्रा, प्रमादादिके द्वारा उसे ढँक देता है। फिर तो, मनुष्य जड़वत् मूढ हो जाता है अथवा जड़ अवस्थामें चला जाता है। परन्तु रजोगुणी कर्म यदि शास्त्रीय अथवा महापुरुषोक्त—प्रक्रियासे किया जाय तो वही मूढतासे मुक्त करके ज्ञानका वासनोपराग मिटा देता है और उसे शुद्ध कर देता है। सत्त्वगुणकी वृद्धिके दो लक्षण हैं—प्रकाश और ज्ञानासक्ति। सुखासक्ति और बौद्धिक अहंकारसे बचकर धर्मानुष्ठान करनेसे सत्त्वकी वृद्धि होती है। इसमें सदाचारी जीवन; यथार्थ ज्ञान और आसक्तिरहित आनन्दकी उत्पत्ति होती है।

११. याज्ञवल्क्य मुनिके मतमें यज्ञ, सदाचार, दम, अहिंसा, दान, स्वाध्याय आदि देश-काल-सापेक्ष धर्म हैं और योगद्वारा आत्मदर्शन परमधर्म है। याज्ञवल्क्यजीने धर्मके पाँच प्रेरणा-स्रोत बताये हैं—वेद, वेदाविरुद्ध स्मृति, दोनोंसे अविरुद्ध सदाचार, तीनोंसे अविरुद्ध आत्मप्रिय और चारोंसे अविरुद्ध स्वयं ग्रहण किया हुआ नियम। इस लक्षणमें मुख्य बात यह है कि आत्म-दर्शनको परमधर्म माना गया है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि कर्मानुष्ठानात्मक धर्मका परित्याग करके भी आत्मज्ञानके लिए

प्रयत्न करना पड़े तो करना चाहिए। यह बात मनुस्मृतिमें स्पष्ट कही गयी है कि प्रणव-जप, उपनिषद्का पाठ, चित्त-शान्ति, और आत्मज्ञानके लिए आवश्यक हो तो अग्निहोत्रादि कर्मका परित्याग कर देना चाहिए (१२।९२)।

१२. इतिहासविद् आचार्योंका अभिमत है कि **परम्परागत सदाचार ही धर्मका श्रेष्ठ लक्षण है।** इसका अभिप्राय यह है कि कालक्रमसे परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं। देश-भेदसे भी संस्कृतियोंमें अन्तर मिलता है। भिन्न-भिन्न जाति और सम्प्रदायके लोगोंसे भी संसर्ग होता है—ऐसी अवस्थामें मनुष्य यदि अपने कुल-क्रमागत सदाचारका त्याग करने लगे तो वह कहींका नहीं रहेगा। संसर्ग-दोष, भौगोलिक दोष और परिस्थिति-दोषसे रक्षा करके जीवनको तपःपूत रखनेवाला यह परम्परागत सदाचार ही है। इसीसे '**आचारप्रभवो धर्मः**'—ऐसा कहा गया है। कहीं-कहीं 'आचारः प्रथमो धर्मः' अथवा 'परमो धर्मः' भी है। मनुस्मृति (४।१७८) में कहा गया है कि जिस मार्गसे अपने पिता-पितामह गये हों अर्थात् उन्होंने जिस सदाचारका पालन किया हो, उसी मार्गसे चलना चाहिए। उससे चलनेवाले मनुष्यपर अधर्म आक्रमण नहीं करता। सदाचार कहनेका अभिप्राय यह है कि उनके द्वारा किये गये कदाचारका अनुसरण नहीं करना चाहिए। मनुस्मृति (४।१७६)में लोकनिन्दित धर्म-विरुद्ध आचरणका भी परित्याग कर देना चाहिए, ऐसा कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि शास्त्रार्थमें विवाद हैं; परन्तु परम्परागत सदाचारसे कोई विवाद नहीं है।

१३. देवर्षि नारदके मतमें **महापुरुषकी आज्ञाके अनुसार कर्म करना ही धर्म है।** नारद पंच-रात्रके आचार्य हैं। वे श्रौत-स्मार्त पद्धतिमें धर्मका जो लक्षण किया गया है उससे कुछ विलक्षण बतलाते हैं। आचारसहित विद्याका उपदेश करनेवाला आचार्य होता है। प्रत्येक व्यक्तिको उसकी योग्यताके अनुसार अभ्युदय-निःश्रेयसका उपाय बतानेवाला गुरु होता है। गण्डकी नदीकी शिला शालग्राम है और पूजामें रखी गयी शिला इष्टदेव है। महापुरुष वेद, शास्त्र, पुराणका सार-सार जानते हैं। अपने अनुभवसे उनके अर्थका साक्षात्कार करते हैं। वे अपने शिष्यको लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए विशिष्ट साधनका उपदेश करते हैं। इसीके अनुसार भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय बनते हैं। नारदने जो धर्मका लक्षण किया है उसके अनुसार बुद्ध, महावीर स्वामी, ईसा, मोहम्मद, जरथ्रुस्त, नानक आदिके द्वारा उपदिष्ट मार्ग भी धर्म-लक्षणके साथ समन्वित

हो जाते हैं; क्योंकि वे महापुरुषोंके द्वारा उपदिष्ट हैं। वर्णाश्रम-धर्म श्रौत-स्मार्त पद्धतिके अनुसार है। उसमें वेद और तदनुकूल शास्त्र ही प्रमाण होते हैं। इस लक्षणके अनुसार भिन्न-भिन्न महापुरुषोंकी प्रामाणिकता भी स्थापित होती है।

१४. अंगिरा ऋषिके मतमें भगवान्‌के प्रति अर्पित कर्म ही धर्म है। इस लक्षणमें एक विशिष्ट पद्धति स्वीकार की गयी। इसमें कर्ताके अधिकार, शास्त्रप्रमाण, महापुरुषके उपदेश अथवा कर्मके स्वरूपपर बल नहीं दिया गया है। इसमें यह कहा गया है कि कर्मका उद्देश्य संकीर्ण स्वार्थ है अथवा परमेश्वरकी प्रसन्नता? जहाँ कर्म भगवत्-प्रसन्नताके लिए है, वहाँ धर्म है और जहाँ संकीर्ण स्वार्थके लिए है, वहाँ नहीं। इसी दृष्टिकोणसे भक्तिमार्गमें धर्मका विचार किया गया है। 'कायेन-वाचा०' भागवतके इस श्लोककी व्याख्यामें श्रीधर स्वामीने कहा है कि किसी विशेष कर्मका नाम भागवत-धर्म नहीं है, प्रत्युत भगवदर्पित सभी कर्म धर्म होते हैं।

१५. भगवान्‌के द्वारा आदिष्ट भगवत्प्रापक उपाय—नामोच्चारण, नाम-स्मरण, सर्व-कर्मार्पण आदि धर्म हैं—ऐसा भागवतका मत है। यह ध्यान देने-योग्य है कि अजामिलके प्रसंगमें वेद-विहित और वेदनिषिद्धको धर्माधर्म मानकर यमदूतोंने स्वर्ग-नरक, प्रायश्चित्त और उससे मुक्तिका उपाय बताया था। वह सर्वथा वैदिक धर्मके अनुरूप है, उसमें किसी प्रकारका दोष भी नहीं है, परन्तु भगवान्‌के पार्षदोंने उनकी बात नहीं मानी और केवल नामाभासको सम्पूर्ण पापोंका निवर्तक मानकर अजामिल-जैसे पापीको उनके हाथोंसे छीन लिया और उसे साधनके मार्गपर डाल दिया। जब यमदूत यमपुरीमें यमराजसे इसका रहस्य पूछने लगे तब उन्होंने भागवत-धर्मका स्वरूप बताया। यमराज बारह भागवतोंमें-से एक हैं। उनका कहना है कि 'धर्मके प्रणेता स्वयं भगवान् ही हैं। बड़े-बड़े ऋषि और देवताओंको भी धर्मका रहस्य ज्ञात नहीं है। हम बारह भागवत-धर्मको जानते हैं। नामोच्चारण आदिके द्वारा भगवान्‌के प्रति भक्तियोग ही परम धर्म है।'

इस प्रसंगमें एक प्रश्न उठाया गया है कि यदि नामोच्चारण आदि सरल साधनोंसे ही बड़े-बड़े पापोंकी निवृत्ति हो जाती है तो धर्मशास्त्रके ग्रन्थोंमें बारह-बारह वर्षतक व्रत करके पापोंकी निवृत्तिके प्रायश्चितका विधान क्यों है? इसके उत्तरमें कहा गया है कि जैसे मृतसंजीवनी ओषधिको न जाननेवाले वैद्य रोग मिटानेके लिए त्रिकटु, निम्ब आदि औषधोंका प्रयोग करते हैं, वैसे ही

नाम-स्मरणके माहात्म्य न जाननेवाले महाजन बड़े-बड़े उपाय बताते हैं। यहाँ महाजन शब्दका अर्थ बताते हुए कहा गया है कि जिन बारहोंका नाम लिया गया है उनके अतिरिक्त मुनिगण (श्रीधर), शास्त्रज्ञ जन (वीर राघव), जैमिनि आदि (विश्वनाथ चक्रवर्ती)। इनके सम्बन्धमें स्पष्ट उल्लेख है कि माया देवीने इन महाजनोंकी बुद्धि हर ली है। ये मधु-पुष्पितात्रयोके मीठे-मीठे वचनोंमें फँस गये हैं। जडीकृत हो गये हैं। उन्हें बड़े-बड़े कर्म ही पसन्द आते हैं। इसका अर्थ है कि भगवत्प्रोक्त और भगवत्प्रापक उपाय नामोच्चारणादि अत्यन्त सुगम एवं सार्वजनिक धर्म हैं। इसके-जैसा ईश्वरके साथ सम्बन्ध जोड़नेवाला दूसरा कोई धर्म नहीं है।

भागवतके प्रथम स्कन्धके दूसरे अध्यायमें यह निरूपण किया गया है कि जिससे भगवान्में अहेतुक और अप्रतिहत भक्ति हो उसको परम धर्म कहते हैं। जिससे भगवत्कथामें रति हो वही धर्मानुष्ठान है, शेष श्रम है। धर्मका मुख्य फल अपवर्ग है, धन नहीं। भलीभाँति अनुष्ठित धर्मका फल हरितोषण है। धर्मका परम तात्पर्य भगवान्में ही है। इसीसे आप समझ सकते हैं कि भागवतमें धर्मका क्या स्वरूप स्वीकार किया गया है? इसके अतिरिक्त सत्य, अहिंसा, भूतदया, सर्वत्र भगवद्दर्शन, सर्वत्र भगवद्भाव आदिको भी स्थान-स्थान पर धर्म कहा गया है।

इन लक्षणोंके प्रकाशमें आप धर्मपर विचार कीजिये। किसी एकांगी लक्षणमें अपनी बुद्धिको आबद्ध मत कीजिये। आप देखेंगे कि ये लक्षण इतने उदार, उदात्त एवं व्यापक हैं कि इसमें सम्पूर्ण विश्वके सार्वकालिक, सार्वदेशिक एवं अखिल साम्प्रदायिक मत-मजहबोंका सन्निवेश हो जाता है। क्या आपकी दृष्टि इतनी संकीर्ण है कि जो आपकेद्वारा मान्य लक्षण है उसमें जिसका सन्निवेश हो उसको धर्मात्मा माने और जो दूसरे लक्षणके अन्तर्गत हो, उसको अधार्मिक? आप इन सभी लक्षणों पर विचार कीजिये और अपनी अन्तःकरणकी संकीर्णताका परित्याग करके सबमें व्यापक धर्म-सत्ताका अनुभव कीजिये। इससे आपके मनमें जो राग-द्वेष, संघर्ष, कटुता, वैमनस्य आदिकी भावनाएँ आ-आकर आपको दुखी बनाती हैं वे शान्त हो जायँगी और आप परमार्थपथपर अग्रसर होंगे।

●

शाङ्करभाष्य एक अध्ययन

श्री स्वामी सच्चिदानन्देन्द्र सरस्वती

(गताङ्कसे आगे)

२६. सुपुप्त दशामें यह पुरुष प्राज्ञ-परमात्मज्योतिसे संपरिष्वक्त होकर भेदरहित हो जाता है और किसी बाह्य या आन्तर वस्तुको नहीं जानता। यह चैतन्य ज्योतिस्वरूप होकर भी क्यों नहीं जानता? इस प्रश्नका उत्तर भली-भाँति दे दिया गया। (देखिये, बृ० भा० ४।३।२१)

'प्राज्ञ' शब्दका अर्थ नित्य-चैतन्य-लक्षण-प्रज्ञासे युक्त होना ही है। अतः यह प्राज्ञ स्वप्न और जाग्रत् दशामें भी अनुवृत्त रहता है। यही कारण है कि यह सुषुप्तिमें जिस प्रकार परमेश्वर है, वैसे ही स्वप्न और जाग्रत्में भी। अवश्य ही स्वप्न और जाग्रत्में अविद्यासे उपस्थापित कार्य-करण संघातका अभिमानित्व-लक्षण प्रमातृत्वाभास भी रहता है, इसलिए उस कार्य-करणके अभिमान एवं प्रमातृत्वके आभासका निषेध करके उनका परमेश्वरत्व भी प्रतिपादित किया जाता है। अपनी महिमाका ज्ञान होते ही वह शोकरहित हो जाता है (मु० ३।१।२)। इस प्रकार तीनों ही अवस्थाओंमें अविद्यासे अध्यारोपित प्रमातृत्वका तिरस्कार करके इस आत्माका एक-सा परमेश्वरत्व बोधित किया जाता है। अवस्थात्रय-प्रक्रिया केवल यही बतलाती है कि आत्मा सभी अवस्थाओंसे रहित है। इन अवस्थाओंमें इनसे न्यारा होना ही उसका तुर्यत्व है। 'तुरीय' शब्दका अर्थ कोई अवस्था-विशेष अथवा अज्ञात वस्तु-विशेष नहीं है, अवस्थात्रयसे विविक्त आत्माको ही तुरीय कहते हैं।

सुपुप्तिकालीन आत्माको ही भूतपूर्व गतिसे 'प्राज्ञ' कहते हैं; क्योंकि यह अन्य अवस्थाओंमें प्रज्ञाके द्वारा व्यवहार करता है इसलिए इसे 'प्राज्ञ' कहते हैं। अथवा इसीका असाधारण रूप है—प्रज्ञप्तिमात्र, इसलिए इसे 'प्राज्ञ' कहते हैं; क्योंकि दूसरी अवस्थाओंमें विशिष्ट विज्ञान भी रहता है (माण्डू० भा० ५)।

आचार्यने इस वचनमें प्रमाताके आश्रित विज्ञानको ही 'विशिष्ट-विज्ञान' कहा है। 'भी' कहनेका यह अर्थ है

कि स्वरूपभूत प्रज्ञान तो रहता ही है। ब्रह्मसूत्र भाष्यके १।३।४२ में आचार्यने 'प्राज्ञ' शब्दका एक दूसरा ही अर्थ दिया है—प्राज्ञ परमेश्वर है। सर्वज्ञत्व लक्षणा-प्रज्ञासे उसका कभी वियोग नहीं होता।

जैसे किसीको स्थाणुमें पुरुष-बुद्धि हो रही हो, वैसे ही यह द्वैत-बुद्धि अविद्याके द्वारा ही बनती है। जबतक इस अविद्याको निवृत्त करनेवाली अपने कूटस्थ-स्वरूप दृक्-आत्माको 'अहं ब्रह्मास्मि'—इस प्रकार नहीं जानता, तभीतक जीवका जीवत्व रहता है। श्रुति विवेकके द्वारा देह, इन्द्रिय, मन एवं बुद्धिके संघातसे ऊपर उठाकर समझाती है कि 'तुम देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि—इनके संघात नहीं हो। लोक-परलोकमें आने-जानेवाले या जन्म-मरणमें पड़े हुए कर्ता-भोक्ता, संसारी, तुम नहीं हो। किन्तु तुम वह हो जो अबाधित सत्य आत्मा है; तुम्हारा स्वरूप चैतन्य-मात्र है। तुम वही ब्रह्म हो।' श्रुतिके इस वचनसे जीव जब अपने आपको जान जाता है कि 'मैं कूटस्थ, अविनाशी, दृक् स्वरूप हूँ' तब वह देहाभिमानसे ऊपर उठ जाता है। व्यवहार बाधित है और आत्मा कूटस्थ, नित्य दृक्स्वरूप है (ब्र० भा० १।३।१९)।

आचार्यकी वाणी इससे स्पष्ट और क्या कह सकती है? विश्व, तैजस्, प्राज्ञ—ये संज्ञाएँ अवस्था-हेतुक हैं। 'तुरीय' संज्ञा अवस्था-निषेध-हेतुक है। वह इन्हीं अवस्थाओंमें रहनेवाले परम-तत्त्वका संकेत है।

मुण्डकोपनिषद्के 'द्वा सुपर्णा०' (३।१।१) के व्याख्यानमें क्षेत्रज्ञ अर्थात् लिङ्गोपाधि चैतन्य अविवेक-वश भोक्ता हो रहा है—ऐसा कहा है। वही नित्य साक्षी सत्तामात्रके द्वारा भोक्ता, भोज्य—दोनोंका प्रकाशक है। वह भोक्ता और भोग्यकी उपाधिसे पृथक् प्रकाशमात्र है और केवल प्रकाशता है, बस यही उसका स्वरूप है।

मुण्डकोपनिषद् (३।१।२) के भाष्यमें स्पष्ट कहा गया है कि यह आत्मा जब अपनेको वृक्ष-रूप उपाधिसे विलक्षण, असंसारी, भोग-पिपासा-शोक-मोह-जरा और मृत्युसे मुक्त जान लेता है और यह अनुभव करता है कि 'मैं सबका आत्मा हूँ, सम हूँ, सर्वाधिष्ठान हूँ, मैं अविद्याजनित-उपाधिसे परिच्छिन्न मायात्मा नहीं हूँ। यह सम्पूर्ण जगत् परमेश्वरकी ही महिमा है'—ऐसी दृष्टि होते ही वह वीतशोक हो जाता है।

माण्डूक्योपनिषद्के तृतीय मन्त्रमें जाग्रत् स्थान आत्माको सप्ताङ्ग कहा गया है। उसका अर्थ है कि वैश्वानर विराडात्मा है। इसपर भाष्य करते हुए आचार्यने कहा है कि सम्पूर्ण उपनिषदोंका तात्पर्य सर्वात्माकी

एकताके प्रतिपादनमें है। इसलिए आध्यात्मिक पिण्डात्माको द्युलोक आदि सात अङ्गोंवाले विराडात्माके साथ एक बताना सर्वथा युक्ति-युक्त है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि जैसे पिण्डात्मा विराडात्मासे एक है, वैसे ही तैजसात्मा हिरण्यगर्भात्मासे और प्राज्ञात्मा अव्याकृतात्मा परमेश्वरसे एक है; अर्थात् भेद उपाधिमूलक है। और आत्माका स्वरूप अद्वय तुरीय, ब्रह्म ही है।

यह ध्यान देनेयोग्य है कि जब श्रुति आत्माको पिण्डाभिमानसे छुड़ाकर ऊपर ले चलती है, प्रमाणोपाधिक प्रमातापनेका तिरस्कार हो जाता है और जब स्वप्नात्माको हिरण्यगर्भसे एक करते हैं, तब व्यष्टि-वासनावत्ता अपने आप ही छूटकर गिर पड़ती है।

जाग्रदवस्थामें सविषया-स्थूल प्रज्ञा भोज्य है और स्वप्नावस्थामें केवल वासनामात्र-सूक्ष्मप्रज्ञा भोज्य है इसलिए जाग्रत्, स्वप्न अवस्थाओंके भोगमें तो भेद है परन्तु आत्मामें नहीं। निश्चय ही इस प्रसंगमें यह कहा जा रहा है कि स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों ही प्रज्ञा भोज्य हैं। इसलिए आत्मा भोक्ता नहीं, साक्षी परमेश्वर ही है।

माण्डूक्योपनिषद्के छठें मन्त्रमें प्राज्ञको सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, अन्तर्यामी, सर्वकारण और प्राणियोंका प्रभवाप्यय कहा गया है। इसको स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि जैसे प्राण लय होनेपर परिच्छिन्नाभिमानियोंका प्राण अव्याकृत रहता है, ठीक वैसे ही जब प्राणाभिमानी अविशेष दशाको प्राप्त होता है, तब उसकी अव्याकृतरूपता समान ही होती है। प्रसव बीजात्मकता भी समान ही होती है। अव्याकृत अवस्थामें उसका अध्यक्ष भी एक ही रहता है। परिच्छिन्नाभिमानी अध्यक्षोंका उससे एकत्व हो जाता है। इसीसे उपनिषद्में एकीभूत प्रज्ञानघन कहा गया है और वह युक्तियुक्त है। यही प्राण अर्थात् प्राज्ञात्माका जीव-प्रसव-बीजात्मक होना, सुषुप्तावस्थासे उपहित और अव्याकृतसे अभेद होना है। यह बात अभ्युपगम अर्थात् स्वीकृति देकर कही गयी है; क्योंकि स्वप्न और जाग्रत्में ज्ञातापनेका विकल्प रहता है और उसका आधार यही है।

२७. अब भाष्यके इस वचनपर कि 'सुषुप्तात्मा और अव्याकृतात्मा दोनों निर्विशेष होनेके कारण एक ही हैं'—इसपर सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करना चाहिए; क्योंकि सार्वत्रिक अनुभवके बिना वस्तु पूर्णतः अपरोक्ष नहीं होती।

'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (ऐतरेय १।१) इत्यादि श्रुतियाँ ऐसा वर्णन करती हैं कि

प्रलयावस्थामें नाम-रूप अव्याकृतमें लीन हो जाते हैं और वहाँ केवल आत्मा ही रहता है। ठीक इसी प्रकार माण्डूक्य उपनिषद्में कहा— सुषुप्तावस्थामें भी नाम-रूप अव्याकृतमें लीन हो जाते हैं इसलिए आत्मा एक ही है। 'एकीभूतः प्रज्ञानघन.' का यही अर्थ है। बृहदारण्यक ४।३।३२ में कहा गया है कि प्रलयके समय कारण-वारिमें द्रष्टा एक ही अद्वैत रहता है। यही ब्रह्मलोक है। इसीको परम गति, परम सम्पत्ति, परम लोक एवं परमानन्द भी कहा गया है। ठीक इसी प्रकार सुषुप्तात्मासे प्राण, लोक, देव और भूतोंकी उत्पत्तिका वर्णन भी किया जाता है। देखिये (बृ० २।१।२०) जैसे ऊर्णनाभि (मकड़ी) तन्तु उगलती है अथवा जैसे अग्निसे छोटी-छोटी चिनगारियाँ छिटकती हैं, इसी प्रकार इस आत्मासे सब प्राण, सब लोक, सब देव और सर्वभूत उत्थित होते हैं। माण्डूक्यमें प्राज्ञको भूतोंका उत्पत्तिस्थान एवं प्रलयस्थान कहनेका यही अभिप्राय है।

थोड़ा ही ध्यान देनेपर यह स्पष्ट हो जायगा कि अवस्थात्रय-प्रक्रिया और जगत्कारण-प्रक्रियामें किसी प्रकारका विरोध नहीं है, प्रत्युत् एक-वाक्यता है; क्योंकि दोनोंमें ही पर-मेश्वरसे ही जगत्के जन्म, स्थिति, प्रलयका वर्णन किया गया है। यह इसलिए कि यह प्रपञ्च परमेश्वरसे अन्य नहीं है। स्वप्न और जाग्रत् अवस्थाओंमें नाम-रूप परस्पर पृथक्-पृथक् होते हैं और सुषुप्ति दशामें नाम-रूप स्वरूपसे भी नहीं रहते हैं—ऐसी अवस्थामें नाम और रूप अपने आत्म-स्वरूपमें अविद्यासे ही अध्यारोपित हैं और वस्तुतः आत्माका अवस्थात्रयवान् होना मायामात्र ही है। पूर्वोक्त विचारसे यह सिद्धान्त सर्वथा सुनिर्णीत हो जाता है।

कौषीतकि उपनिषद् (३।३) में सुषुप्ति और जाग्रत्से ही जगत्के प्रलय और उत्पत्तिका वर्णन स्पष्ट मिलता है। यह श्रुति ब्रह्मसूत्र भाष्य (१।३।३०) में उद्धृत की गयी है। जब सुषुप्त पुरुष कोई स्वप्न नहीं देखता है और इस प्राणमें ही एकीभूत हो जाता है तब वाक् सब नामोंके साथ इसीमें प्रलीन हो जाती है। नेत्र सब रूपोंके साथ, श्रोत्र सब शब्दोंके साथ, मन सब ध्यानोंके साथ इसीमें प्रलीन हो जाता है और जब यह पुरुष जाग्रत् होता है तब जैसे अग्निसे चारों ओर चिनगारियाँ छिटकने लगती हैं, इसी प्रकार इस आत्मासे सारे प्राण अपने आयतनके अनुसार विराजमान हो जाते हैं; उन्हींसे देवता और देवताओंसे लोककी उत्पत्ति होती है।

'यदा सुप्तः स्वप्नं न कञ्चन पश्यत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति तदैनं वाक् सर्वैर्नामभिः सहाप्येति

चक्षुः सर्वैः रूपैः सहाप्येति श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहाप्येति मनः सर्वैर्ध्यानैः सहाप्येति स यदा प्रतिबुध्यते यथाग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्तदात्मनः सर्वे प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः।'

'इस प्रसंगमें अनुभवका सहायक होनेके कारण श्रुतिके द्वारा अनुमोदित तर्कका ही आश्रय लिया जाता है यथा—स्वप्नमें जाग्रत् नहीं है और जाग्रत्में स्वप्न नहीं है अर्थात् दोनोंमें परस्पर दोनों नहीं हैं। ऐसी स्थितिमें आत्माका किसी भी एक स्थितिमें अन्तर्भाव नहीं हो सकता। सुषुप्ति दशामें आत्मा प्रपञ्चका परित्याग करके सदात्मासे एक हो जाता है; अर्थात् निष्प्रपञ्च सदात्मा ही हो जाता है। यह प्रपञ्च परब्रह्म परमात्मामें ही उसीसे उत्पन्न और सिद्ध होता है। इसलिए कार्य-कारणकी अनन्यताके न्यायसे ब्रह्मसे पृथक् नहीं है—यह अनन्यताका न्याय ब्रह्मसूत्रके 'तदनन्याधिकरण'में स्पष्ट किया हुआ है। इसी प्रकारके तर्क ब्रह्मविचारमें स्वीकृत हैं।' (ब्रह्मसूत्र भाष्य २।१।७)।

सुषुप्ति कालमें जीव परब्रह्मसे एक हो जाता है। परब्रह्मसे ही प्राणादिरूप जगत्की उत्पत्ति होती है। यही वेदान्तकी मर्यादा है (ब्र० सू० १।७।१८)। इसका यह अभिप्राय है कि चाहे प्रपञ्चकी उत्पत्ति परमेश्वरसे कही जाय अथवा प्रत्यगात्मासे, अव्याकृतावस्थामें दोनों एक होते हैं, इसलिए सिद्धान्तमें कोई भेद नहीं है।

'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २।४।६), 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छा० ७।२५।२), 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' (मु० २।२।१२), 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० ३।१४।१)—इन सब श्रुतियोंमें समान रूपसे इस सिद्धान्तका प्रतिपादन किया गया है कि तीनों कालमें कार्य कारणसे अनन्य है। इसमें जो कार्य और उसके धर्मोंका निषेध है, वह अविद्यासे अध्यारोपित होनेके कारण है। इसका अर्थ है कि उनके द्वारा कारण संसृष्ट नहीं होता। यह बात सुषुप्ति और प्रलयमें भी समान है। इस दृष्टान्तकी ओर भी ध्यान दीजिये कि जैसे कोई मायावी (जादूगर) अपनी फैलायी हुई माया (जादूके खेल)से कभी संस्पृष्ट नहीं होता; क्योंकि वह जादू और खेल कोई वस्तु नहीं हैं; इसी प्रकार परमात्मा भी संसार-मायासे संस्पृष्ट नहीं होता। जैसे एक स्वप्नद्रष्टा स्वप्नकी मायासे नहीं बँधता; क्योंकि वह जागरण, सुषुप्ति-दशासे सम्बद्ध नहीं है। इसी प्रकार जो तीन अवस्थाका एक साक्षी है, वह किसी अवस्थासे आबद्ध अथवा परिवर्तनशील नहीं है। अवस्थाएँ बदलती रहती हैं। बदलनेवाली वस्तुसे न

बदलनेवाली वस्तुका कोई सम्बन्ध नहीं होता। जैसे रज्जुका सर्पादिभाव-के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, वैसे ही परमात्माका तीन अवस्थावालाके रूपमें भासना केवल मायामात्र है। इस विषयमें वेदान्तार्थ-सम्प्रदायके अभिज्ञ आचार्योंने स्पष्ट कहा है कि अनादि मायासे सुप्त जीव जब जग जाता है, तब वह अपनेको अजन्मा, अवस्थात्रयरहित, अद्वैत जान लेता है (गौडपादका० १।१६)। ब्रह्मसूत्र भाष्य (२।१।९)में आचार्यने यह स्पष्ट किया है।

बृहदारण्यक उपनिषद्के 'कतम आत्मा'—इस प्रसंगका विवरण करते हुए आचार्यने स्पष्ट कहा है कि अवस्थाओंके निरूपणसे जो लोग यह अभिप्राय निकालते हैं कि आत्मा संसारी है, वे उसकी उलटी व्याख्या करते हैं। 'आत्मा अवस्थावान् अथवा संसारी है'—यह उपनिषद्का अभि-प्रेत अर्थ नहीं है। उसका अनावृत अभिप्राय है कि आत्मा अवस्थारहित अथवा असंसारी है। (ब्र० सू० भा० १।३।४२)। माण्डूक्य उपनिषद्-का यह प्रसंग इतना स्पष्ट है कि वहाँ सप्तांगादि कहकर चैतन्यका अभेद बता दिया है और साथ ही उसे 'नान्तः प्रज्ञं न बहिः प्रज्ञम्' कहकर स्पष्ट उद्घोष कर दिया है कि आत्मा-का अवस्थाओंके साथ कोई संस्पर्श नहीं है। अब हम यह बात निश्चित रूपसे कह सकते हैं कि तीन अवस्थाओं-का वर्णन आत्माको इन अवस्थाओंमें और इनसे परे भी अवस्थाहीन प्रति-पादन करनेके लिए है।

२८. अवस्थात्रयकी प्रक्रियासे एक और बात सिद्ध होती है, वह यह कि जाग्रत् अवस्थाके नाम-रूप और उनके द्वारा निर्मित कार्य-करण संघात अविद्या-कल्पित होनेके कारण मायिक हैं। इसलिए जाग्रत् अवस्थामें जितना भी चेतन-अचेतनका नानात्व, जीवोंका प्रमातृत्व, कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व, साथ ही भोक्ता-भोग्यके विभाग और व्यवहार आदि—सभी मायिक हैं; अर्थात् प्रतिभासमान होते रहनेपर भी बाधित ही हैं। न केवल इतना ही, प्रत्युत् उसीकी अपेक्षासे प्रतिभासमान ईश्वरका ईश्वर-त्व, जगत्-कारणत्व तथा जीवोंका ईश्वराधीनत्व भी वैसा ही है; अर्थात् मायिक ही है। इसी प्रकार सुषुप्ति और प्रलयमें बीज-शक्तिके रूपमें नाम-रूपका कुछ शेषावशेष रह जाता है—यह व्यवहार भी मायिक ही है; क्योंकि जिस आधारपर उन अवस्थाओंमें बीज-शक्तिका अनुमान किया जाता है, वह आधार ही अविद्या-कल्पित है और रज्जु-सर्पके बीज निरूपणके समान है। अतएव श्रुति विज्ञानमयको भी अज, अद्वितीय ब्रह्मसे अभिन्न ही बतलाती है। आपने देखा है कि विषय-सापेक्ष अन्तः-

प्रज्ञत्वादि सभी विशेष अविद्या-कल्पित हैं और उनका निराकरण करके श्रुति आत्माको तुरीयरूपमें बोधित कराती है, जिसमें तीन अवस्था और उसके भीतर भासमान प्रपञ्चका किञ्चित् भी स्पर्श नहीं है।

आचार्यने ब्र० सू० भा० २।१।१४ में कहा है कि सर्वज्ञ ईश्वरके आत्मभूत-नाम-रूप अविद्या-कल्पित हैं। नाम-रूप दोनों ही तत्त्व अथवा अतत्त्व रूपसे निर्वचनीय नहीं हैं। वे ही संसार-प्रपञ्चके बीज हैं। वे ही सर्वज्ञ ईश्वरकी माया, प्रकृति आदि नामसे श्रुति-स्मृतिमें वर्णित हुए हैं। ईश्वरका वास्तविक स्वरूप उन दोनोंसे विलक्षण है। छान्दोग्य श्रुति ८।१४।११ ने स्पष्ट ही कहा है कि नाम-रूपका निर्वाहक चिदाकाश है। वे दोनों जिसमें हैं, वह ब्रह्म है।

यह भी ध्यान देनेयोग्य है कि यहाँ जो यह कहा गया कि तत्त्व अथवा अतत्त्वके रूपमें नाम-रूपका निर्वचन नहीं किया जा सकता, वह व्यवहारमें भासमान मायिक शरीर की अपेक्षासे ही है। परमार्थतः नाम और रूप भी आत्मस्वरूप ही हैं। श्रुतिका तात्पर्य परिच्छिन्न तादात्म्यको काटकर केवल अखण्ड, अद्वय तत्त्वको समझानेमें ही है।

ब्र० सू० भा० २।१।१४ में ही आचार्यने सत्यका अनावरण करते हुए कहा है कि जैसे घड़ा, करवा आदि उपाधियोंके अनुरोधसे आकाश वैसा-वैसा दीखता है, वैसे ही अविद्या-कृत नाम-रूप उपाधियोंके अनुरोधसे ब्रह्मचैतन्य ईश्वर होता है। वह घटाकाश स्थानीय स्वात्मभूत विज्ञानात्मा जीवोंको ही व्यवहार-विषयमें सञ्चालित करता है। ब्रह्म-चैतन्य ही अविद्यासे प्रत्युपस्थापित नाम-रूपके द्वारा कार्य-करणरूप संघातके अनुरोधसे जीवका नाम ग्रहण करता है। इस प्रकार आविद्यक उपाधिके परिच्छेदकी अपेक्षासे ही ईश्वरकी ईश्वरता, सर्वज्ञता एवं सर्व-शक्तिता है, परमार्थतः नहीं। ब्रह्म-विद्यासे सम्पूर्ण उपाधियोंका बाध हो जानेपर अखण्ड आत्मामें ईश्वर, जीव, सर्वज्ञ आदिका व्यवहार सिद्ध नहीं होता, जैसा कि छान्दोग्य श्रुति ७।२४।१ कहती है—भूमा वह है जिसमें अन्य दर्शन, अन्य श्रवण अथवा अन्य विज्ञान नहीं है। बृहदारण्यक श्रुतिका कहना है कि जब तत्त्वज्ञान समकाल सब कुछ आत्मरूप ही हो गया, तब किस करणसे, किस विषयको देखेगा? इस प्रकार पर-मार्थतः सभी व्यवहारोंका अभाव है—ऐसा सब वेदान्तोंका कहना है।

ब्र० सू० भा० २।१।१४ में आचार्यने कहा है कि सूत्रकारने परमार्थके अभिप्रायसे प्रपञ्चको ब्रह्माभिन्न कहा है—'तदनन्यत्वम्'। व्यवहारके अभिप्रायसे वे ब्रह्मको एक

महासमुद्र जैसा बताते हैं। कार्य-प्रपञ्चका खण्डन किये बिना ही परि-णाम-प्रक्रियाका इसलिए आश्रय लेते हैं कि सगुण उपासनाओंमें इनका उपयोग होगा।

जीव जबतक अपनेको कूटस्थ-नित्य-दृक्-स्वभाव ब्रह्म नहीं जानता तभीतक अविद्याके कारण उसका जीवत्व रहता है। जब श्रुति उसको परिच्छिन्नके अभिमानसे उठाकर जगा देती है, तब वह तुरन्त व्यक्तित्वा-भिमानसे मुक्त होकर अपनेको ब्रह्म अनुभव करता है (ब्र० सू० भा० १।२।१९)।

जब 'तत्त्वमसि' सरीखे महान् वचनोंके द्वारा, जिनसे आत्मा और ब्रह्मका अभेद प्रतिबोधित होता है, यह जीव जग जाता है, तब जीवका संसारित्व (कर्तृत्व, भोक्तृत्व, प्रमा-तृत्व, लोक-परलोकगामित्व अर्थात् सम्पूर्ण परिच्छिन्नत्व निवृत्त हो जाता है और साथ ही ब्रह्मका स्रष्टापना भी निवृत्त हो जाता है। (ब्र० सू० भा० २।१।२२)।

लोक-व्यवहारमें यह बात देखनेमें आती है कि बाल्यावस्था आदिमें भी पुंस्त्व प्रभृति विद्यमान रहते हैं परन्तु उपलब्ध नहीं होते। जैसे उनका यौवनावस्थामें नवीन आविर्भाव होता हो, परन्तु ऐसा नहीं है; क्योंकि ऐसी दशामें नपुंसकमें भी पुंस्त्वकी उत्पत्ति होनी चाहिए; अर्थात् विद्यमानको ही उत्पत्ति होती है, अविद्यमानकी नहीं। इसी प्रकार आत्माका बुद्धिके साथ सम्बन्ध भी सुषुप्ति और प्रलयमें शक्तिरूपसे विद्यमान ही रहता है, पुनः जाग्रत् और सृष्टिके समय प्रकट होता है। (ब्र० सू० भा० २।३।३१)।

यह जगत् प्रलीन होनेपर भी शक्तिके रूपमें अवशिष्ट रहता है। शक्तिसे इसका उदय भी होता है। (ब्र० सू० भा० १।३।३०)।

वैसे तो परमात्मामें किसी प्रकारका विभाग नहीं है, परन्तु वह मिथ्या ज्ञानसे प्रतिबद्ध होकर स्वप्नवत् जाग्रत् कालमें भी विभाग-व्यवहारका हेतु बनता है। ठीक इसी प्रकार प्रलय कालमें भी मिथ्या ज्ञानसे प्रतिबद्ध होनेके कारण ही विभाग-शक्ति रहती है, ऐसा अनुमान किया जाता है। (ब्र० सू० भा० २।१।९)

वस्तुतः आचार्य यहाँ यह कह रहे हैं कि जिस बुद्धि-सम्बन्ध, विभाग-शक्ति आदिका सुषुप्ति और प्रलयमें अनुमान किया जाता है, वह सब मिथ्या ज्ञान निमित्तक ही है। महात्माओंका तो ऐसा कहना है कि सृष्टि-प्रलयकी कल्पना ही वैराग्यके लिए है, परमार्थ-दृष्टिसे नहीं।

'यदि सुषुप्ति और प्रलयमें निर्बीज स्थिति मानी जाय तो फिर उत्थान क्यों होता है? इसका कोई उत्तर नहीं मिलता। यदि किसी निमित्तके बिना ही उत्थान मानें तो मुक्तोंका भी

पुनर्जन्म मानना पड़ेगा; क्योंकि बीजा-भावकी मान्यता दोनोंमें समान हो जायगी। यदि उन अवस्थाओंमें ज्ञान-बाह्य बीज नहीं रहता, तो फिर ज्ञानका भी क्या प्रयोजन है? इसीलिए श्रुतियोंमें उन अवस्थाओंको सबीज स्वीकार करके ही प्राण अथवा कारण कहा गया है। साथ ही, स्वरूप-बोधके लिए 'वह पर-अक्षरसे भी परे हैं', (मुण्डक २।१।२) 'बाहर-भीतर सब अजन्मा है' (मु० २।१।२), 'वहाँ तक वाणी नहीं पहुँच सकती' (तै० २।९), 'नेति-नेति' (बृह० ३।३।६)—इन वचनोंके द्वारा बीजत्वका अपवाद करके शुद्ध वस्तुका निर्देश है।' (गौ० का० भा० १।२)

निषेधका परमोज्ज्वल रूप माण्डूक्य उपनिषद्के सातवें मन्त्रमें प्रकट होता है—

नान्तः प्रज्ञं न बहिः प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्।

अदृश्यमव्यवहार्यमग्राह्यम-लक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्म-प्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः॥

२९. अब तक इसका किञ्चित् दिग्दर्शन कराया गया कि जगत् कारण-वाद आदि पाँचों प्रकारकी प्रक्रियाएँ केवल अध्यारोप-अपवाद प्रक्रियाकी अवान्तर भेद-मात्र हैं। इसी प्रकार दूसरी प्रक्रियाओंका तात्पर्य भी समझना चाहिए। प्रक्रियाका इतना ही स्वरूप है कि सर्वत्र परमार्थ तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करानेके लिए उपाय-रूपसे जिस-जिस वस्तुका आत्मामें अध्यारोप किया जाता है, अन्ततः उसका अपवाद कर दिया जाता है। लोक-व्यवहारमें, अपनेको जो जीव माना जाता है, उसीको अध्यारोपविधया स्वीकार करके फिर वह शरीरी है, जन्म-मरणवान् है, कर्ता है, भोक्ता है, लोकान्तरगामी है, भोगके अनन्तर पुनः शरीरान्तर ग्रहण करनेवाला है—यह सब शास्त्रमें वर्णन किया जाता है। यह सब लोक-सिद्ध अध्यारोपका अनुवादमात्र ही है। इसके अनन्तर संसारमें वैराग्य होना, गुरु-चरणोंमें शरणागत होना, उपदेशका श्रवण करना, श्रुतार्थका मनन करना और फिर उसके अर्थ-विज्ञानसे, बन्धनसे मुक्ति पाना—यह साराका सारा शास्त्रीय-व्यवहार भी अविद्या-भूमिमें ही अध्यारोपित है। इस प्रकार चाहे व्यवहारका स्वरूप लोक-सिद्ध हो, चाहे शास्त्र-सिद्ध, इससे आत्मामें किसी प्रकारकी विशेषता न आयी है, न आती है। जैसे रजत, सर्प, तल-मलिनता आदिके व्यवहारसे शुक्ति, रज्जु, आकाश आदिका कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसी प्रकार आत्मामें बन्ध-मुक्ति—दोनोंका कोई सम्बन्ध नहीं होता। अविद्याके सम्पर्कसे

आत्माको बद्ध और उसकी निवृत्तिसे आत्माको मुक्त कहा जाता है। नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्मसे अनन्य रूपमें नित्य-स्थित आत्माको ही 'यह अज्ञानी है' अथवा 'यह अज्ञानका विषय है'—इस प्रकारका आश्रयत्व, विषयत्व-रूप व्यवहारका विषय कल्पित किया जाता है। इससे आत्माके स्वरूपमें किसी विशेषकी उत्पत्ति नहीं होती। यही समझानेके लिए श्रुतिमें 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि महावाक्य ब्रह्मको आत्मा और आत्माको ब्रह्म परस्पर एक-दूसरेको एक बताकर भेद-भ्रान्तिको मिटा देते हैं। जैसे रज्जु, शुक्ति आदिमें सर्पत्व, रजतत्व आदिका व्यवहार करते समय भी वहाँ सर्प, रजत आदि सर्वथा नहीं हैं, वैसे ही जिस समय हम अपनेको संसारी समझते हैं, उस समय भी अपनेमें वास्तविक संसारित्व नहीं है। रज्जु-सर्पादिका दृष्टान्त देकर महात्माओंने यही अभिप्राय प्रकट किया है।

दृष्टान्त और दार्ष्टान्तमें कुछ अन्तर समझना चाहिए। अच्छा, अब दृष्टान्तकी बात लीजिये। यह सच है कि रज्जु, शुक्तिका आदि स्थलमें वस्तुतः सर्प, रजत आदि नहीं हैं। ज्ञाता भ्रान्तिवश ही ऐसा समझता है कि वहाँ सर्प, रजतादि हैं और वैसा बोलता भी है। उसकी वैसी बुद्धि और वैसा शब्द—दोनों ही भ्रान्तिजन्य हैं। दार्ष्टान्तस्थलमें इतनी बात तो ठीक है कि ब्रह्मात्माके सम्बन्धमें भी विपरीत-ज्ञानकृत ही आत्मसम्बन्ध है, तथापि वहाँ विपरीत प्रत्यय और उसका अपवाद—दोनों ही अविद्यामूलक हैं। जैसे सर्प, रजतादिका अध्यारोप मिथ्या प्रत्यय है, वैसे ही आत्मामें अनात्माका अध्यारोप भी मिथ्या प्रत्यय है। ये दोनों व्यवहार ही मिथ्या हैं। फिर भी, दोनोंमें एक अन्तर है। सर्पादि प्रत्यय कभी-कभी होते हैं और प्रमाताके प्रमाता रहते ही उत्पन्न होते हैं और मिट जाते हैं। अर्थात् भ्रान्तिसे सर्पादि प्रत्यय होते हैं और प्रमाण वृत्तिसे निवृत्त हो जाते हैं परन्तु प्रमाता ज्यों-का-त्यों रहता है। आत्मामें अनात्माका अध्यारोप ऐसा नहीं है। अध्यारोप होनेके बाद प्रमातापन आता है। जब अध्यारोप निवृत्त होता है तब प्रमातापन भी निवृत्त हो जाता है। इसलिए कालका अस्तित्व रहते ही मूलाध्यारोपकी उत्पत्ति हुई है या उसकी निवृत्ति हो जाती है—ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती; क्योंकि अध्यारोपको स्वीकार करके ही कालकी सत्ता स्वीकार की जाती है। इसका अर्थ यह है कि सर्पादि भ्रान्तिकी निवृत्ति होनेपर भी अन्तःकरणोपाधि प्रमाताकी परि-च्छिन्नता शेष रह जाती है। परन्तु ब्रह्मात्मैक्य ज्ञानसे प्रमातापना ही

बाधित हो जाता है इसलिए प्रमातृ-मूलक देश-काल और अनात्म वस्तु भी बाधित हो जाती है। इसीसे तत्त्वज्ञानी पुरुष अध्यारोपको अनादि और अनन्त बतलाते हैं। सबका निचोड़ यह है कि न केवल अविद्याके ही व्यवहार, प्रत्युत् विद्याके व्यवहार भी अविद्या-भूमिमें प्रतिष्ठित हैं। यह बात पहले ही कही जा चुकी है। इसका विस्मरण नहीं होना चाहिए।

आत्मा आकाशके समान है। जीव घटाकाशके समान। देहादि संघात घटादिके समान। बस, जन्मका इतना ही अर्थ है। (गौ० का० ३।३)

जन्म-मरण, परलोक-गमन और आगमन, शरीरमें रहना और निकलना, इन सब क्रियाओंके भासते हुए भी आत्मा आकाशवत् ही है। सब शरीर स्वप्नवत् हैं, जैसे मायासे कोई वस्तु दिखेर दो गयी हो। इनमें श्रेष्ठता अथवा समताके सम्बन्धमें कोई युक्ति नहीं है। (गौ० का० ३।९,१०)

चाहे अविद्या रहे, चाहे मिट जाय, परमार्थ वस्तुमें कोई अन्तर नहीं होता। कोई अन्धकारमें पड़ी रस्सीको साँप मान बैठे और डरकर थर-थर काँपता हुआ भागे। अब दूसरा कोई उसे समझा दे कि 'यह साँप नहीं, रस्सी ही है।' इससे उसका सर्प-भय, कँपकँपी और भागना रुक जायगा। आप ही विचार कर लीजिये कि साँप समझनेके समय या साँपकी भ्रान्ति मिट जानेके समय क्या रस्सीमें कोई विशेषता आयी या गयी ? आत्मज्ञानके सम्बन्धमें भी यही समझना चाहिए। (ब्र० सू० भा० १।४।६)।

यहाँ आचार्यने यह स्पष्ट कर दिया कि भ्रान्ति-काल और भ्रान्ति-निवृत्ति-काल—दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है वस्तुमें। इसी प्रकार जो काल-कल्पनाका अधिष्ठान और प्रकाशक है, उसमें अविद्या-काल और निवृत्ति-काल, इसमें कोई अन्तर ही नहीं है; क्योंकि काल-कल्पना अविद्या-पुरःसर ही होती है।

अब यदि कोई कहे कि ब्रह्ममें अविद्याकी सिद्धि नहीं होती, तो उसको यह कहना कि श्रुति ब्रह्म-ज्ञानका विधान करती है, इसलिए अज्ञानकी निवृत्ति अभीष्ट है। वह होगा तभी तो निवृत्त किया जायगा। यदि शुक्तिकामें रजतका अध्यारोप न होता तो 'यह शुक्तिका है, रजत नहीं'—यह कहने की आवश्यकता ही न रहती। 'यह सब सत् ही है', 'यह सब ब्रह्म ही है', 'यह सब आत्मा ही है', 'ब्रह्मातिरिक्त द्वैतका अस्तित्व नहीं है'—यह जो ब्रह्मके एकत्वका विज्ञान है, यह उपदेश करनेकी आवश्यकता ही न होती; यदि ब्रह्ममें अविद्याकृत द्वैताध्यास न होता। (बृ० भा० १।४।१०) इस-

लिए विद्योपदेश-श्रुतिकी अन्यथानुपपत्तिसे ब्रह्मकी अविद्याका विषय स्वीकार करना पड़ता है और इसकी निवृत्तिके लिए ब्रह्मज्ञानकी आवश्यकता है।

हम यह नहीं कहते कि जैसे शुक्तिकामें रजतका अध्यारोप होता है, वैसे ब्रह्ममें प्रपञ्चका अध्यारोप नहीं होता। अच्छा, तब आप क्या कहना चाहते हैं? हम केवल यह कहना चाहते हैं कि ब्रह्म अपने आपमें परिपूर्ण हैं, वह स्वयं अपनी ओरसे न प्रपञ्चके अध्यारोपका निमित्त बनता है और न अविद्याका कर्ता बनता है। ठीक है, यह मान लिया कि ब्रह्म न तो अविद्याका कर्ता है और न तो भ्रान्त है। किन्तु इसपर भी तो ध्यान दीजिये कि ब्रह्मके अतिरिक्त दूसरा कोई भी चेतन न तो अविद्याका कर्ता है और न तो भ्रान्त है। क्या आपने इन श्रुतियोंका स्वाध्याय नहीं किया? 'ब्रह्मसे भिन्न कोई विज्ञाता चेतन नहीं हैं।' 'तुम वही हो।' 'अपने आपको ही जाने।' 'मैं ही ब्रह्म हूँ।' 'वह अन्य है और मैं अन्य हूँ—ऐसा जो जानता है, वह नहीं जानता।' (बृ० भा० १।४।१०)।

इसका अभिप्राय यह है कि अविद्या दृष्टिसे ही ब्रह्म अविद्याका आश्रय है, परमार्थतः वह अविद्या-रहित है। इस अविद्याको दूर करनेके लिए ही श्रुति-प्रमाणकी अपेक्षा है।

यह जो परमार्थके व्यवहारका अभाव कहा जाता है, वह कोई विशेष अवस्था या स्थितिमें आबद्ध है—ऐसा नहीं है। 'तत्त्वमसि' महावाक्यके द्वारा आत्माकी ब्रह्मरूपता प्रतिपादित की जाती है; वह कभी विशेष अवस्थामें रहती है और कभी मिट जाती है—ऐसा नहीं है। वह तो वस्तु-तत्त्वका वर्णन है। उसका स्मृति, विस्मृति, समाधि, नवीन विज्ञानकी उत्पत्ति या नवीन आनन्दकी उत्पत्तिके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। (ब्र० सू० भा० २।१।१४)। इसका अभिप्राय यह है कि जिस समय यह जीव अपनेको कर्त्ता, भोक्ता, संसारी एवं परिच्छिन्न मानता है, उस समय भी वह वैसा नहीं है, ब्रह्म ही है।

'स वा एष महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद। (बृ० ४।४।२५)।'

इस मन्त्रकी व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि यह सारा उपनिषद्का संक्षिप्त अर्थ है। इसी अर्थको भलीभाँति समझानेके लिए उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय आदिकी कल्पना की गयी है और क्रिया, कारक एवं फलका अध्यारोप भी आत्मामें किया गया है। उस कल्पना और अध्यारोपका अपवाद करके 'नेति-नेति' इस वचनके द्वारा अध्यारोपित भेदका अपनयन करनेकी प्रक्रियासे तत्त्वका

स्वरूप बोधित कराया गया है। आत्मा महान्, अजन्मा, अजर, अमर, अमृत, अभय ब्रह्म है। सचमुच वह अभय ब्रह्म है। जो ऐसा जानता है वह भी अभय ब्रह्म ही होता है।

माण्डूक्य-कारिका २।३३, 'भावै-रसद्भिरेवायं०' की व्याख्यामें आचार्य कहते हैं कि प्राणादि भाव असत् हैं। आत्मा परमार्थ सत् है। आत्मा सर्व-विकल्पका आस्पद रज्जुवत् है और प्राणादि सर्पवत्। अद्वय सत् आत्मासे ही प्राणादिकी कल्पना सिद्ध होती है, क्योंकि कोई भी कल्पना निरधिष्ठान नहीं होती। इसलिए सभी कल्पनाओंका आस्पद अद्वय स्वात्मा कभी व्यभिचरित नहीं होता, अतः कल्पनावस्थामें भी अद्वयता शिवरूप है। कल्पना ही अशिव है।

बृहदारण्यक भाष्य ४।४।६ में कहा गया है कि जैसे तिमिर रोग होने और न होनेसे दृष्टिमें ही विशेष होता है, उसी प्रकार अविद्या होने और न होनेका अन्तर आत्मामें नहीं है; क्योंकि बृहदारण्यक ४।३।७ में स्पष्ट कहा गया है कि 'यह ध्यान करता-सा है', 'चञ्चल होता-सा है', अर्थात् परमार्थतः न चंचल है, न ध्याता। इसलिए अविद्या सम्बन्धका स्वतः निषेध हो जाता है। गम्भीर दृष्टिसे देखा जाय तो अविद्या-भ्रम भी अनेकविध व्यापारके सन्निपातसे ही जन्य है। और वह विषय भी होता है। जो अविद्या-भ्रमको घटादिके समान विविक्त रूपसे देखता है, वह अविद्या-भ्रमवान् नहीं है।

सीपकी रजतके रूपमें प्रतीति हो रही है—इस वाक्यमें सीपका अर्थ तो सचमुच सीप ही है, परन्तु 'रजत' शब्दका अर्थ वस्तु नहीं है, केवल प्रतीति है। 'रजत है'—ऐसी केवल प्रतीति ही होती है, वहाँ रजत नहीं है। (ब्र० सू० भा० ४।१।५)।

वेदान्त-प्रमाण आत्माके प्रमा-तृत्वको बाधित कर देता है और प्रमातृत्वकी निवृत्तिके साथ-ही-साथ स्वयं वेदान्त भी अप्रमाण हो जाता है। जैसे जागनेपर स्वप्न-कालीन प्रमाण प्रमाण नहीं रहता। तुम्हें वस्तु मिली या नहीं मिली, अथवा तुम उसके लिए प्रवृत्त हुए या नहीं हुए—इससे साथ प्रमाणका कोई सम्बन्ध नहीं है। वह तो केवल वस्तुका आवरण-भंग मात्र कर देता है। (गी० भा० २।६९)।

यहाँ आचार्य यह कह रहे हैं कि सीपको पहचान लेनेके बाद 'उसको उठाकर लाओ या छोड़ दो'—इसके साथ प्रमाणका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार प्रमा-तृत्वरहित स्वातम-तत्त्वका अधिगम होनेके बाद न आत्मामें प्रमातृत्व है और न तो उसके अधिगमके लिए पुनः प्रमाणकी प्रवृत्ति है। जो पहले

आँख और मन

मनने आँखसे पूछा—'महारानी जो ! तुम अधिकांश इधर-उधर, यह-वह निहारती रहती हो, एक तिरछी चितवन परमात्मापर भी क्यों नहीं डालतीं ?'

आँखने कहा—'मैं जब घूमकर उनकी ओर देखना चाहती हूँ तब वे मुझे निहारते हैं। फिर मैं उनकी ओर कब और कैसे देखूँ ?'

मन—'देखो, वे तुमसे कितना प्यार करते हैं। तुम्हें जीवन देते हैं, प्रकाश देते हैं, प्यार देते हैं और निरन्तर तुम्हें देखते रहते हैं। ऐसेको छोड़कर तुम दूसरेकी ओर क्यों देखती हो ?'

आँख—'यह सब सच है। परन्तु जब मैं उन्हें देखना चाहती हूँ, वे अन्तर्धान हो जाते हैं। एक प्रश्न यह भी है कि वे मुझे लगातार देखते क्यों रहते हैं ? क्या मुझपर उनका विश्वास नहीं है ?'

●

अन्वेष्टव्य था, वही जब अन्वेष्टा आत्माके रूपमें ज्ञात हुआ, तब अन्वेष्टा और अन्वेष्टव्य—दोनोंका भाव अपने आप ही गल गया। फिर साधनकी कौन कहे, जहाँ प्रमाता, प्रमाण, प्रमेयकी त्रिपुटी ही आभासमात्र हो गयी। प्रमाताके रहनेपर ही काल—वासनाकी अनुवृत्ति रहती है और कालके साथ-ही-साथ अध्यासको भी अनादि और अनन्त माना जाता है। उसकी अनुभव-वेद्यता भी तभीतक है। आत्मैकत्व-ज्ञान हो जानेपर न अध्यास है, न प्रमातृत्व है और न तो काल। (क्रमशः)

बुद्धिका अपना व्यक्तित्व नहीं है

वाणीने बुद्धिसे जिज्ञासा की—'श्रीमती! आप कृपा करके यह
बतलाइये कि आपके पास पुरातन एवं नूतन विचार-रत्नोंका
ऐसा खजाना कहाँ रक्खा है कि आप मुझे निरन्तर
देती रहती हैं और वह कभी क्षीण नहीं होता है।
नित्य नवीन होता जाता है?'

बुद्धिने कहा—'सुनो, सखि! मेरे पीछे कोई बैठा है। मैं उसको देख
नहीं पाती, वह मुझे देखता है। मैं उसकी गोदमें हूँ। वह मुझे
विश्राम और व्यवहार देता है। वह मुझे प्रियतासे तर
करता रहता है। वह मुझे कभी छोड़ता नहीं, क्षण
मुझे भले छोड़ जायँ। द्रव्यमें आकारके समान
मैं उसीमें जीती हूँ। प्रकाशमें प्रतीतिके
समान मैं उसीमें भासती हूँ।
आनन्दमें प्रेमके समान मैं
उसीसे संलग्न हूँ।

उसीकी सत्ता लेकर मैं कर्ता बनती हूँ। उसीका ज्ञान लेकर मैं प्रमाता
बनती हूँ और उसीका आनन्द लेकर मैं भोक्ता बनती हूँ। जब
मैं इन तीनों भावोंको छोड़ देती हूँ, तब मैं 'मैं' नहीं रहती,
वह 'वह' नहीं रहता; भेदकी सर्वथा निवृत्ति हो
जाती है। अपनेको अद्वितीय ब्रह्म-स्वरूप
जान लेनेका अर्थ ब्रह्मभावमें निरन्तर
स्थिति नहीं है, भेद-भ्रमकी
निवृत्ति-मात्र है—केवल
द्वैतका बोध है।

●

सरस्वतीकी महिमा—पुराणोंमें

श्री मुहम्मद इसराइल खाँ
संस्कृत विभाग, अलीगढ़ विश्वविद्यालय

इसमें सन्देह नहीं कि अत्यन्त प्राचीन कालसे ही संस्कृत साहित्यमें सरस्वतीका देवी होने और उनके मूर्तिमती होनेका वर्णन प्राप्त होता है। वेदोंमें उनकी जिस स्थूल मूर्तिकी उपलब्धि होती है, वह आजके समान नहीं है। ऋग्वेदके प्रायः सभी मण्डलों और अनेक सूक्तोंमें सरस्वतीकी महिमाका गान है। ब्राह्मणग्रन्थोंमें सरस्वती वाणीके साथ एक हो गयी है। शतपथ, तैत्तिरीय, ऐतरेय, ताण्ड्य, गोपथ एवं शाङ्खायन ब्राह्मणमें कहा गया है 'वाग्वै सरस्वती' अर्थात् वाणी ही सरस्वती है। परन्तु पुराणोंमें उसकी मूर्तिमत्ता सर्वोत्कृष्ट रूपमें प्रकट हुई है। यही कारण है कि पुराणमें सरस्वतीकी प्रतिमाके निर्माण-के सम्बन्धमें बहुत सारी विधियाँ मिलती हैं। इन विधियोंका अवलोकन ही इस लेखका विषय है।

पुराणोंमें केवल सरस्वतीकी मूर्तिका ही नहीं अपितु अनेक देवी-देवताओंकी प्रतिमाओंके निर्माण-सम्बन्धी विधान स्थान-स्थानपर प्राप्त होते हैं। इस विषयमें अग्नि, मत्स्य, विष्णुधर्मोत्तर नामक पुराणोंका विशिष्ट महत्त्व है। अग्निपुराणमें उनचासवेंसे लेकर पचपनवें अध्यायतक मूर्ति-निर्माणकी विधि है। उनचासवें अध्यायमें ब्रह्माके मूर्तिनिर्माणकी प्रक्रियाके साथ ही स्पष्ट किया गया है कि ब्रह्माके वाम भागमें सरस्वतीकी मूर्ति होनी चाहिए, दक्षिण भागमें सावित्रीकी।

ठीक इसी प्रकार मत्स्यपुराणके २५८ वें अध्यायसे छः अध्यायोंमें इसी विधिका प्रतिपादन है। यहाँ भी सरस्वतीकी प्रतिमामें ब्रह्माकी मूर्तिका सादृश्य लक्षित होता है। विधान है कि सरस्वती ब्रह्मसदृश ही होनी चाहिए, 'ब्रह्माणी ब्रह्मसदृशी'। ब्रह्माके सम्बन्धमें कहा गया है कि उनके हाथमें कमण्डलु होना चाहिए और मुख चार। वे हंसपर बैठे हों या कमलासनपर। उन्हींके समान सरस्वतीकी मूर्ति भी चतुर्मुखी, चतुर्हस्ता, हंसारूढा, रुद्राक्षमालाधारिणी एवं कमण्डलुहस्ता होनी चाहिए।

अग्नि और मत्स्यपुराणोंका वर्णन मिलता-जुलता है। मत्स्यपुराणमें वामभागमें सावित्री और दक्षिणभागमें सरस्वतीका स्थान कहा गया है। इस विषयमें अग्निपुराण और मत्स्य-पुराणका मतभेद है।

विष्णुधर्मोत्तरके तृतीय खण्डमें प्रतिमानिर्माण शैलीका सम्पूर्ण वर्णन है। इसके चौवालीसवें अध्यायमें कमलासनपर ब्रह्माका वर्णन है। सावित्री ब्रह्माके वामभागमें विराजती हैं। यहाँ सरस्वतीका वर्णन नहीं है।

पुराणोंमें जिन विधानोंका प्रति-पादन है, वे केवल पुस्तकमें लिखित विधान ही नहीं हैं अपितु भारतवर्षकी विभिन्न मूर्तिकलाओंमें उनका प्रयोग भी देखा जाता है। मथुराकी मूर्ति-कलामें ब्रह्माके साथ सरस्वतीको जो स्थान प्राप्त है, उससे उसमें पुराणोंकी आंशिक अनुकृति प्रकट होती है। आंशिक कहनेका अभिप्राय यह है कि विष्णुधर्मोत्तरमें ब्रह्माके साथ सावित्रीकी चर्चा है; परन्तु मथुराकी मूर्तिकलामें ब्रह्माके साथ सरस्वती प्रदर्शित हैं। सिद्धान्त एवं प्रयोगमें यह भिन्नता जो अन्य पौराणिक सिद्धान्तोंके साथ सङ्गत नहीं होती, वह सदैव प्रचलित ही रही होगी, ऐसा कहना युक्तियुक्त नहीं है। मूर्तिकलाके कुछ ऐसे उदा-हरण भी मिलते हैं जिनमें सिद्धान्त और प्रयोग—दोनोंमें एकता अनायास ही दीख जाती है। ब्रह्माकी मूर्तिके साथ सरस्वती और सावित्री दोनोंकी मूर्ति रहनी चाहिए इस सिद्धान्तका प्रयोगात्मक स्वरूप सिन्ध प्रान्तके मीरपुर खासमें प्रारम्भिक चोलामें और अन्तिम होटसालमें स्पष्टतया देखी जा सकती है। कलकत्ता विश्व-विद्यालयके जे० एन० बनर्जीने इनका उल्लेख किया है।

इसके अतिरिक्त पुराण स्वयं ही हमारे हृदयमें यह विश्वास उत्पन्न करते हैं कि पुराण युगमें प्रतिमा-निर्माणकी प्रक्रिया प्रयोग आती थी। पुराणोंमें यत्र-तत्र ऐसे उदाहरण मिलते हैं। सरस्वतीके भक्त अम्बुवीचि नामक राजाने सरस्वती नदीकी मृत्तिकासे सरस्वतीकी प्रतिमाका निर्माण किया था, यह उल्लेख स्कन्धपुराणमें मिलता है। **'चकार भारतीं देवीं स्वयमेव चतुर्भुजाम्।'** इसी प्रकार भगवान् शंकरने स्थाणु तीर्थमें सरस्वतीकी पूजा करके सरस्वती लिङ्गकी स्थापना की थी। यह कथा वामनपुराणके चालीसवें अध्यायमें है। इन उदा-हरणोंसे यह सुस्पष्ट हो जाता है कि पुराणोंमें देवी-देवताओंकी प्रतिमाका केवल संकेतमात्र ही नहीं है; अपितु उनकी निर्माण-विधिका भलीभाँति उल्लेख है।

प्रतिमा - विद्यामें मुखाकृतिकी विशेष महिमा है; क्योंकि कोई भी शिल्पी मुखपर दृष्टि रखकर ही प्रतिमाका निर्माण करता है। प्रतिमा-

जगत्‌में मुखनिर्माणके सम्बन्धमें विविध प्रकारके मान प्रचलित हैं। सरस्वती और सावित्रीकी प्रतिमा दस तालकी बनानी चाहिए, यह बात प्रसन्न-कुमाराचार्यके द्वारा सम्पादित 'मान-सार' में मिलती है। ताल अनेक होते हैं—नवताल, अष्टताल, सप्तताल इत्यादि। उनमें दशतालको सर्वोत्तम माना जाता है। इन सभी तालोंमें सम्पूर्ण प्रतिमा मुखाकृतिकी दशगुणित मानी गयी है। यह दशताल भी उत्तम, मध्यम और अधमके भेदसे तीन प्रकारका है। उत्तम दशताल सम्पूर्ण प्रतिमाको एक सौ चौबीस भागोंमें, मध्यम एक सौ बीस भागोंमें और अधम एक सौ सोलह भागोंमें विभक्त करके अवयव-संस्थानका विन्यास मानता है।

मानसारमें ही मुख-निर्माणकी विधि अत्यन्त रोचक शब्दोंमें वर्णन की गयी है। मुख गोल-गोल कुक्कुटाण्डके समान बनाना चाहिए। श्री कुमारकृत 'शिल्परत्न'में दशतालके तीन भेदोंकी विशद व्याख्या उपलब्ध है। इसी प्रकार श्री प्रसन्नकुमारा-चार्यने 'शिल्पशास्त्र'में अँगुलियोंके निर्माणकी विधि विस्तृत रूपसे लिखी है।

मूर्तिविद्याके क्षेत्रमें मुखकी व्याख्या अपना एक विशिष्ट स्थान रखती; है परन्तु कोई भी पुराण विस्तारपूर्वक प्रतिमाके मुख और मुखानुसारिणी प्रतिमाकी विवेचना नहीं करता है। यह बात सत्य है कि पुराणोंमें देवी-देवताओंके मुख एक निश्चित संख्यामें बताये गये हैं। ऐसी स्थिति होनेपर भी उनमें मुखकी संख्याके निर्धारणमें मतैक्य नहीं है। सरस्वतीके मुखके सम्बन्धमें भी मत-भेद है। पुराणोंमें उनका अनेक रूपसे वर्णन प्राप्त होता है। सरस्वतीका वर्णन ब्रह्माके सदृश प्राप्त होता है—कहीं एक मुख, कहीं चार मुख। मत्स्यपुराणमें ब्रह्माके समान चतुर्मुख, वायुपुराणमें भी चतुर्मुख, परन्तु विष्णुधर्मोत्तरमें एक मुखका वर्णन है।

'रूपमण्डन'में सरस्वतीके दो भेद हैं—महाविद्या और सरस्वती। महा-विद्या एकमुखी है। कहीं-कहीं उसे ब्रह्माके समान पञ्चमुखी कहा गया है ('सूत्रधारमण्डन')। पंचमुखीकी ही 'शारदा' नामसे प्रसिद्धि है।

बौद्धधर्ममें सरस्वतीका जो रूप स्वीकार किया गया है, वह ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें वर्णित रूपके अनुसार कुछ मिलता है और कुछ नहीं। विनयतोष भट्टाचार्यका कहना है कि वह एक मुख और दो मुखकी भी हो सकती है और वज्रसरस्वती तीन मुखकी भी होती है। देखिये, साधनमाला पृ० १६३।

विद्वानोंका मत है कि सरस्वतीकी विभिन्न मुख-संख्याका पृथक्-पृथक् ध्वनितार्थ होता है। संख्यानिर्धारणके

अनन्तर उनका विवेचन भी आवश्यक है। ऋग्वेदके छठे मण्डलके सूक्त ६१, १०वें मन्त्रमें सरस्वतीको सप्तस्वसा कहा गया है। सायणने इस पदका अर्थ यह किया है कि गायत्री आदि सात छन्द सरस्वतीकी बहन हैं। यदि सरस्वतीको नदीरूप मानें तो गंगा आदि सात नदियाँ बहन हैं, यह अर्थ किया है। पुराणोंमें भी यही अर्थ बतलाया गया है। विष्णुधर्मोत्तरके अनुसार सरस्वतीका मुख गायत्री छन्दका प्रतिनिधित्व करता है। यह सत्य है कि ऋग्वेदमें गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती और अनुष्टुप् आदि सात छन्दोंका प्रयोग हुआ है। उनमें गायत्रीका स्थान प्रमुख है। ये छन्द चारों वेदोंके प्रतिनिधि हैं। इससे सिद्ध होता है कि सरस्वतीका 'सप्तस्वसा', यह वैदिक विशेषण उसको वाक्के साथ सम्बद्ध कर देता है। पौराणिक सिद्धान्तके अनुसार सरस्वतीके मुखका गायत्रीका प्रतिनिधि होना सरस्वती और वाक्का स्पष्ट सम्बन्ध सूचित करता है। मत्स्य और वायुपुराणोंके अनुसार सरस्वती ब्रह्माकी मानसपुत्री है; परन्तु ब्रह्मवैवर्तके अनुसार जब सरस्वतीको किसी अन्यके मुखसे उत्पन्न स्वीकार करते हैं तब उसे वाग्रूप कहते हैं। श्रीमद्भागवतमें ब्रह्माके मुखसे वाक्की उत्पत्ति स्वीकार की गयी। इससे वेद-शास्त्रोंकी उत्पत्तिकी प्रक्रिया प्रकट होती है। मत्स्यपुराणमें भी वेद-शास्त्रोंकी उत्पत्ति ब्रह्माके मुखसे ही कही गयी है। इस प्रकार सरस्वतीके चतुर्मुखी होनेसे ध्वनितार्थ यह है कि वह वेद-शास्त्रोंकी मूर्ति है। इस प्रकार ब्रह्माके चार मुख जब चार वेदोंके प्रतीक हैं तो सरस्वतीके मुख भी उन्हींके प्रतीक हैं।

पुराणोंमें यह बात बार-बार दोहरायी गयी है कि ब्रह्माने सृष्टि-निर्माणके लिए अपने मस्तिष्क और प्रतिभाका महान् समारम्भ किया है। मस्तिष्क और प्रतिभाका तात्पर्यार्थ वेद ही हैं। वासुदेवशरण अग्रवालने अपने मत्स्यपुराणके अध्ययनमें लिखा है कि मस्तिष्क चतुर्विध प्रकृतिसे युक्त है और ब्रह्माण्डरूप है, इसलिए चार वेद और चार मुखके साथ उसका तादात्म्य उचित है। सरस्वतीके मुखके सम्बन्धमें भी समझना चाहिए।

इसी प्रकार सरस्वतीके तीन मुखसे तात्पर्य त्रयीसे है। प्राचीन भारतीय ग्रन्थोंमें त्रयीके नामसे वेदोंका वर्णन मिलता है। नाटक अथवा इतिहास-पुराणको मिलाकर वेदोंको पाँच भी कहा गया है। ब्रह्माने ही नाट्यवेदकी सृष्टि की है। भरतमुनिने अपने नाट्य-शास्त्रमें उसकी प्रधानता स्वीकार की है। ब्रह्माने सब वेदोंका स्मरण करके उनके अङ्गोंसे ही नाट्यवेदकी सृष्टि की है। सारे शास्त्र और सारी कला नाट्यवेदका ही आश्रय लेती

हैं। इसलिए सरस्वती सब कला एवं विज्ञानोंकी प्रतिनिधि हैं; इन्हें ब्रह्मवैवर्त पुराणमें 'सर्वसङ्गीतसन्धानतालकारणरूपिणी' ऐसा कहा गया है।

● हाथ और उनमें स्थित पदार्थ

सरस्वतीके हाथोंकी संख्याके सम्बन्धमें पुराण एकमत नहीं हैं। अधिकांश चार हाथके पक्षमें हैं। 'वीणापुस्तकधारिणी'का अर्थ द्विहस्ता होता है। ब्रह्मवैवर्तमें ऐसा ही कहा है। मत्स्यपुराणमें ब्रह्ममूर्तिके समान चतुर्हस्ता है। अग्निपुराणमें भी ऐसा ही है। उनके हाथोंमें क्या-क्या होना चाहिए, अब इसका विवेचन प्रारम्भ करते हैं। अग्निपुराणके अनुसार चारों हाथोंमें पुस्तक, रुद्राक्षमाला, वीणा और कमण्डलु हैं। विष्णुधर्मोत्तरमें कहा गया है कि दाहिनी ओर की भुजाओंमें पुस्तक और रुद्राक्ष हैं और वायीं ओरकी भुजाओंमें कमण्डलु और वीणा। परन्तु दूसरे स्थानपर ऐसा कहा गया है कि दाहिने हाथमें रुद्राक्षमाला और त्रिशूल और बायें हाथोंमें पुस्तक एवं कमण्डलु हैं। इसमें वीणाके स्थानपर त्रिशूल है। पुराणोंमें इसे वैणवी भी कहा गया है। परन्तु इस 'वैणवी' शब्दका अर्थ क्या है? डा० क्रमदिश्का मत हैं कि यह 'वैणवी' नहीं, 'वैष्णवी' शब्द है। डा० प्रियबालाशाहका कहना है कि वीणाके वंशनिर्मित दण्डके साथ इसका सम्बन्ध है।

ब्रह्मवैवर्तपुराणमें सरस्वतीको दुर्गा, राधा, लक्ष्मी, सरस्वती और सावित्रीके रूपमें पञ्चधा प्रकृति कहा गया है। वहाँ वे चतुर्भुजा हैं। वायुपुराण भी इसकी पुष्टि करता है। वहाँ प्रकृतिरूपी गायके साथ मिलाकर सरस्वतीके चार मुख, चार शृंग, चार दाँत, चार नेत्र और चार भुजाके वर्णन हैं। यह भी कहा गया है कि उन्हींके प्रभावसे सभी पशु चतुष्पद और चतुष्पयोधर होते हैं।

जैन धर्ममें विद्या देवीके चार हाथोंका ही वर्णन प्रायः प्राप्त होता है। बौद्ध धर्ममें सरस्वतीको द्विहस्ता अथवा षड्हस्ता कहा गया है। द्विहस्ताके चार विभिन्न नाम दिये हुए हैं। अष्टभुजा एवं दशभुजा सरस्वतीका उल्लेख है।

● वीणा, पुस्तक और रुद्राक्षका अभिप्राय

सरस्वती देवीके चार मुख एवं चार भुजा चार वेदोंके बोधक हैं। कमण्डलु सब शास्त्रोंका सार है। वह सम्पूर्ण शास्त्रोंका प्रतीक है। स्कन्दपुराणमें सरस्वतीको 'श्रुतिलक्षणा' कहा गया है। पुस्तकधारणका भी यही अर्थ है कि वही सम्पूर्ण विद्याका उत्स है। यह बात सच्ची है कि सबसे पहले सरस्वती जलके साथ सम्बद्ध रही है। यह भी सम्भव है कि नदीके रूपमें ही उसका वर्णन किया गया हो। इसी मौलिक रूपकमें-से दूसरे

विचारोंका प्रादुर्भाव हुआ है। जब सरस्वतीको पञ्चतन्मात्राओंकी जननी कहा जाता है तब उनमें जल तन्मात्रा होनेके कारण जल-सम्बन्ध भी स्पष्ट है, क्योंकि तन्मात्राओंसे जगत्की सृष्टि होती है और सरस्वती सम्पूर्ण तन्मात्राओंकी जननी हैं। अतः विश्व-सृष्टिके कारण पदार्थोंमें उसकी गणना युक्तियुक्त है। जब यह कहा जाता है कि सृष्टिके प्रारम्भमें जल ही जल था तब देवीके कमण्डलुका दिव्य जल सृष्टिके जलके साथ अपना संसर्ग अभिव्यक्त करता है। वस्तुतः सरस्वतीकी जलरूपता और नदीरूपता इससे सुसंगत हो जाती है।

इसी प्रकार देवीके हाथमें स्थित वीणाका भी कम महत्त्व नहीं है। वीणा प्रवीणता अथवा संसिद्धिका प्रतीक है (देखिये स्कन्दपुराण)। वीणा और पुस्तक दोनोंके साहचर्यसे उनके पारस्परिक सम्बन्धका बोध होता है; क्योंकि यह बात असंदिग्ध है कि सरस्वती वाक्प्रतिनियमकी अधिष्ठात्री हैं। इसीसे ब्राह्मण ग्रन्थोंमें 'वाग् वै सरस्वती', यह प्रसिद्धि है। वाक् दो प्रकारकी है—ध्वनि और शब्द। सरस्वतीके हाथमें पुस्तक होना वाणीका होना सूचित करता है और वीणाका होना ध्वनिका। वीणा एक प्राचीनतम वाद्ययन्त्र है। ऐतरेय ब्राह्मणमें इसका वर्णन है। चित्तकी एकाग्रताके लिए सामसङ्गीतकी महती आवश्यकता है। देवी भागवतका कहना है कि इस विषयमें वीणा ही परम सुहृद है। सरस्वतीके हाथमें रुद्राक्षकी माला इस भावको प्रकट करती है कि काल उनके हाथमें है। (अनु०—श्री० म०)

तलवार—तोड़नेके लिए

श्री कामकोटि-पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्यसे प्रश्न किया—'वृत्ति ब्रह्मको किस प्रकार विषय करती है?' उन्होंने सरल भावसे कहा—'यदि कोई रस्सीपर तलवार चलानेको कहे तो उसका अर्थ होता है—रस्सी काट दो। परन्तु यदि वक्ता यह कहे कि लोहेके खम्भेपर तलवार चलाओ तो उसका अर्थ होता है—तलवार तोड़ दो। वस्तुतः वृत्तिका प्रत्यगात्मा, अधिष्ठान, प्रकाशक, स्वयंप्रकाश, अद्वय ब्रह्म वृत्तिका अविषय है—यह बतानेके लिए ही ब्रह्मपर वृत्तिका प्रयोग किया जाता है। वह अविषयको विषय बनानेकी चेष्टा करते ही तत्काल भस्म हो जाती है। अवेद्य अपरोक्ष वस्तुको वृत्तिकी अपेक्षा नहीं। वृत्ति केवल अविद्या-रूप प्रतिबन्धकी निवृत्तिके लिए है।'

सत्यं परं धीमहि

श्रीविजयशंकर कानजी पट्टणी बी० ए०

(१)

ॐ तत्सत्। यह सत् है। सब सत् है। जो है सत् है। अस्तीति सत्। जो सदा है। सत् ही है। सत् ही था। सत् ही सदैव रहेगा। अनादि, अक्षर, अनन्त सत् है। सत्का कभी अभाव नहीं है। असत्से सत्का प्रादुर्भाव नहीं है। असत्में सत्का लय नहीं है। अभावसे सद्-भावकी उत्पत्ति नहीं है। सद्भावका अभावमें अन्त नहीं है। सत् कभी शून्य नहीं होता। सत् कभी असत् नहीं होता। असत् कभी सत् नहीं होता—कभी नहीं, कहीं नहीं। सत् सत् ही है। असत् असत् ही है—सर्वत्र, सर्वदा। असत्का जन्म-मरण नहीं है। सत्का मरण-जन्म नहीं है। जो सत् है वह सनातन है। सत् ही पहले, सत् ही आज, सत् सर्वदा। सत् रूप, आकृति और आभासकी अपेक्षा नहीं रखता। सत् है, होता नहीं—न भवति। वह क्रियाके अधीन नहीं है। कर्मफल नहीं है। कर्मशेष नहीं है। सत् स्वतः सिद्ध है। नित्य एक स्वभाव है। वह सत् है। वह सत् है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

(२)

ॐ तत्सत्। सत् रूप, आकृति एवं आभासकी अपेक्षासे निष्क्रान्त है। सूत्रकी सूत्रता वस्त्र-निर्माणके अधीन नहीं है। वह रक्त, पीत आदि रूपके अधीन भी नहीं है। तूलकी तूलता भी सूत्रके अधीन नहीं है। तूल-तूल ही है; सूत्र हो तो भी, असूत्र हो तो भी। कपड़ा बुना जाय या नहीं, रँगा जाय या नहीं।

सुवर्णकी सुवर्णता कटक-कुण्डल आदि आकृतियोंके अधीन नहीं है। इन्द्रिय अथवा प्रकाशके अभावमें अथवा किसी कारणवश इन्द्रिय-विषयका संस्पर्श न होनेपर आहोस्वित् इन्द्रिय एवं अन्तःकरणका संस्पर्श न होनेपर भी कई वस्तुएँ अवभासमान अथवा प्रतीयमान नहीं होती। इससे उनकी अविद्यमानता सिद्ध नहीं होती

और न वे अवस्तु ही हो जाती हैं। इसीसे कहा है—सद् वस्तुको रूप, आकृति और आभासकी अपेक्षा नहीं होती। वायुका स्पर्श हो, न हो प्रतीयमान हो, न हो। परन्तु वह अवायु नहीं हो जाता। अगोचरतासे वस्तु-सत्ता मिटती नहीं।

कोई दीपक भलीभाँति ढँका हो, प्रकाश बाहर न जाता हो, दीख न रहा हो; तब भी वह अदीप नहीं है, अविद्यमान नहीं है, असत् नहीं है, अर्थात् कोई भी वस्तु अदृष्ट, अगोचर, अप्रतीयमान अथवा अनवभासमान हो जानेसे असत् नहीं हो जाती। वह अवस्तु भी नहीं हो जाती।

यह सर्वथा सत्य है कि वस्तुका वस्तुत्व अवभासमानताके अधीन नहीं है। अतिरूप, रूपातीत, सब रूपोंमें अरूप वस्तुतत्त्व सत् है। अत्याकृति, आकृत्यतीत, सब आकृतियोंमें अनाकृति वस्तुतत्त्व सत् है। अत्यवभास, अवभासातीत, सब अवभासोंमें अनवभास वस्तुतत्त्व सत् है। ॐ तत्सत्।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

(३)

ॐ तत्सत्। सत् 'है' मात्र। अस्तिमात्र। वह 'होना' नहीं है। 'भवति', भवन क्रिया उसमें नहीं है। अस्ति और भवति—'है' और 'होना'—ये दोनों पद परस्पर समान अर्थके वाचक नहीं हैं। 'अस्ति'—यह पद सत्तामात्रका अवबोधक है। केवल विद्यमानताका सूचक है। यहाँ विद्यमानतामें कालपरिच्छेदका निर्देश नहीं है। 'भवति'—यह क्रियापद क्रियाजनित उत्पत्तिका अवबोधक है। जो होता है, वह होकर पश्चात् रहता है। वह वर्तमान रहकर काल-विशेषमें 'अस्ति'—इस प्रकार भासता है। इसलिए उसके सम्बन्धमें 'अस्ति'—ऐसा व्यवहार होता है। ऐसा क्रियाधीन, कालविशेषमें प्रतीयमान, भूतोंका भाव—अस्तित्व है। वह नित्य नहीं है। उनकी इस प्रकारकी सत्ता-प्रतीति तात्कालिक है, नित्य नहीं। वह तात्कालिक तत्क्षणावच्छेदेन सत्ताभासमात्र है। वह वास्तविक नहीं, भौतिक है। वह सादि और सान्त है। वस्तुसत्ता अनादि और अनन्त होती है।

जो 'अस्ति' है, वह स्वतः है। जो होता—'भवति', वह क्रियाजन्य, संयोगजन्य है। संयोगका अन्त वियोग है। अतः वे नश्वर हैं, नित्य नहीं। वे नित्य सद्रूप नहीं हैं। जो भूत है, वह नश्वर है। जो वस्तुसत् है, वह अनश्वर है। वही सत् है।

ॐ तत्सत्।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

केरलके भक्त कवि[1]

अति प्राचीन कालसे ही क्या वैदिक और क्या लौकिक—सभी क्षेत्रोंमें सुर-सरस्वती वाङ्मयकी काव्य-सरिता, देश-काल-निमित्तके अनुरूप चित्र-विचित्र भावोंको अभिव्यंजित करके अपनी मधुरिमा और प्रसादकी दीप्ति दिग्-दिगन्तमें फैलाती रही है—यह वस्तु संस्कृत-इतिहासके विद्यार्थियोंसे छिपी नहीं है। दण्डी, वामन आदि रीतिविद् मनीषियोंके अलंकार-ग्रन्थोंमें प्रसिद्ध वैदर्भी, गौडी, पांचाली आदि संज्ञाएँ किसी अंशमें इसी पदार्थका समर्थन करती-सी जान पड़ती हैं। यदि ऐसा न होता तो विशाल भारतके भिन्न-भिन्न विभागोंके नामसे वैदर्भी, लाटी इत्यादि नामसे काव्य-शरीरके विशिष्ट पद-सन्निवेशका निर्देश न होता। इस महान् संस्कृत-शब्द-राशिके श्रेष्ठ अवयव-संस्थानरूप केरल प्रदेशमें जिस विशिष्ट कविताकी सृष्टि हुई है, वह अनुभूतिकी अभिव्यंजक, स्वाभाविक, सरस, सहृदयहृदयाह्लादक एवं विद्वज्जनोंके द्वारा समादृत रही है। ईसाकी आठवीं शताब्दीसे इस वर्तमान शताब्दी तक कालके महासागरमें जो केरलीय संस्कृत साहित्य-पर्वतकी प्रतिष्ठा की गयी है, उसमें कुछ काव्य-कृतियाँ तो ऊँची चोटीके समान हैं और उनके विधाता-कवि, सृष्टि-विधाताके समान नवरसरुचिरा धाराके सचमुच स्रष्टा हैं। आधुनिक गिर्वाण वाणी प्रणयीजनोंके अन्तःकरणमें भावोल्लासके निमित्त यह लघु निबन्ध ग्रथित किया जा रहा है। जैसे छोटेसे दर्पणमें बड़ा हाथी दिख जाता है, इसी प्रकार इस निबन्धमें केरलीय संस्कृत कविताकी सार-सार सुधा-माधुरीका आस्वादन किया जा सकेगा।

दैवी वाक्के अनुग्रह-भाजन, अभ्यास-पटु कवियोंकी गणना करते समय सबसे पहले, स्वनामधन्य श्री कुलशेखर हृदय-पटलपर आरूढ़ होते हैं। वे एक साथ ही विद्वन्मूर्धन्य एवं धन्य क्षत्रिय-मुकुटमणि थे। वे भक्ति और राज्य, दोनोंका युगपद व्यवहार करते थे। संस्कृत-साहित्यका कौन ऐसा प्रेमी होगा, जो उनकी भक्त-रस-निःष्यन्दिनी मुकुन्दमालाको न जानता हो? आज भी वह

---

१. यह लेख श्री ए. जी. कृष्ण वारियर एम. ए., पी. एच. डी, संस्कृत-विभागाध्यक्ष केरल विश्वविद्यालय—त्रिवेन्द्रम्के संस्कृत निबन्धके आधारपर लिखा गया है।

सम्पूर्ण विश्व-वलयको अपने सौरभसे सुवासित कर रही है। ये दिव्य प्रभाव-शाली भक्त कवि ईसाकी बारहवीं शताब्दीमें द्रविड देशके राजा हुए—ऐसा किसी-किसीका मत है। केरलीय विद्वानोंने इनका समय ७६७ से ८३४ तक निश्चत किया है। केरल-भूमण्डलाखण्डल कुलशेखरने अपने क्षात्र-प्रभावसे पाण्डच एवं लोच राज्योंपर विजय प्राप्त कर ली और ईश्वरानुग्रहसे निवृत्त होकर जगदीश्वरकी सेवाको ही अपने निःश्रेयसका सुगम मार्ग समझकर भगवान् श्रीरंगकी सेवामें संलग्न हो गये और उन्हींके धाममें चिरकाल तक निवास करते रहे। तदनन्तर वे मलवार भूमिमें आये। और वहाँ भक्त-शिरोमणिके रूपमें उन्होंने भागवत-रसका अनुभव किया। केरलके जन-जनमें उनका चरित्र प्रसिद्ध है। वे स्वयं अपने श्रीमुखसे ही अपनेको भगवच्चरणाम्वुज-चञ्चरीक एवं राजा, दोनों बतलाते हैं।

कविकुलशेखर सान्द्र रसमयी भक्तिमें आकण्ठ-मग्न रहते हैं। उन्हें अपनी कविता-कामिनीको अलंकार आदिसे सजाने-सँवारनेकी अपेक्षा न होना स्वाभाविक है। फिर भी, हम देखते हैं कि बिना किसी प्रयत्नके नैसर्गिक भाषा-भूषा-सम्पदा उनकी कविताका अनुगमन करती है। वे जानते हैं कि प्रापंचिक जीवन तुच्छ फल है, नाना प्रकारके क्लेश-कलंक-पंकसे पंकिल है। इसका दुःखद अन्त कहाँ होगा—यह समझना कठिन है? तथापि भगवद्ध्यानामृतमें ही निरुपम तृप्ति है—इसी बातको निरन्तर अनुभव करते रहते हैं और प्रत्यक्ष देखते हैं। यही कारण है कि उनकी वाङ्मयी सृष्टि परम प्रकाशमान अलंकारोंसे उद्दीप्त और सहज दीखती है।

कर-चरण-सरोजे कान्तिमन्नेत्रमीने,
श्रममुषि भुजवीचिव्याकुलेऽगाधमार्गे।
हरिसरसि विगाह्याऽऽपीय तेजोजलौघम्,
भवमरु-परिखिन्नः खेदमद्य त्यजामि॥

अहो! भगवान्का श्री विग्रह क्या है—? एक सरोवर। उनके कर-कमल और चरण-कमल प्रफुल्ल हो रहे हैं। नेत्र-मीन जगमगा रहे हैं। क्या ही श्रमहारी है! भुजा-तरंगसे तरलित है। इसकी गति अगाध है। ज्योति जलराशि है। मैं संसार-मरुस्थलमें भटक-भटककर खिन्न हो गया था। आज इसमें डूब-डूबकर और इसे पी-पीकर अपने सारे दुःखोंसे मुक्त हो रहा हूँ।

यह भक्तिसे भरपूर कवि अलंकार बाँधनेके लिए व्यग्र नहीं है। किन्तु यह भागवत-अनुभूतिसे शीतल चित्तके द्वारा केवल भक्तिको अभिव्यक्ति दे रहा है;

क्योंकि अलंकारमूलक चमत्कृतिकी अपेक्षा इस भक्तशिरोमणिकी सरस एवं सहज अनुभूति ही पाठकोंके हृदयको आकृष्ट करती है। इसीके उपयुक्त परमपरितरूपकका उपन्यास गर्मागर्म ग्रीष्म ऋतुमें सुख-सरोवर में निमज्जन-उन्मज्जनपरायण कविके लिए स्वाभाविक ही है। इस परिमाणमें छोटे, किन्तु अर्थगम्भीर काव्य-रत्नमें तात्पर्य रूपसे उदार अभिप्रायका अनुभव एक बारके पाठसे तत्काल ही होने लगता है। इस काव्यकृतिमें आदिसे अन्त तक कविराजकी मधुर अनुभूति विजय-वैजयन्तीके रूपमें निरन्तर फहराती रहती है। पद-पदमें विश्वासकी दृढ़ता छलक-छलककर सहृदयोंको अपने हृदयसे लगा लेती है। यह कवि न केवल स्वयं परमभक्त है, प्रत्युत पाठकोंके हृदयमें भक्तिभावके सुप्त उत्सको स्रोतस्वी बना देता है। एक उदाहरण देखिये—

'भगवान् नारायण देवकी जय हो, जय हो। उनके चरण-कमल-युगलके संस्मरणके बिना वेदाभ्यास अरण्यरोदन है, प्रतिदिनके ब्रह्मचर्य आदि व्रत केवल मेदोवृद्धि रोकनेके उपाय हैं, बाग-बगीचा, यज्ञ-दान, होम-जप, सब राखमें हवन हैं और तीर्थोंका स्नान केवल गज-स्नान है, जय हो, प्रभुके स्मरण की जय हो।'

आम्नायाभ्यसनान्यरण्यरुदितं वेदव्रतान्यन्वहं
मेदश्छेदफलानि, पूर्त-विधयः सर्वे हुतं भस्मनि।
तीर्थानामवगाहनानि च गजस्नानं विना यत्पद—
द्वन्द्वाम्भोरुह-संस्मृतिं विजयते देवः स नारायणः॥

भक्ति-रस प्रचुर काव्योंके विधाता केरलीय कवियोंमें यद्यपि कालकी दृष्टिसे श्री कुलशेखर सबसे प्रथम हैं, तथापि गुण-वैचित्र्य और रस-भावके परिपाकको दृष्टिसे परीक्षा करनेपर बहुत-से कवि और काव्य 'अहं पूर्वम्, अहं पूर्वम्' करके विचार-पदवीपर आरूढ होनेके लिए आपाधापी करते हुए-से दौड़ते हैं। अवश्य ही भगवान् शंकराचार्य अग्रपूजाके योग्य हैं, जगद्‌गुरु हैं, केरलभूमिके गौरवके प्रथम हेतु हैं, तथापि वे तो अखण्ड भारत और सम्पूर्ण विश्वके निर्मल प्रकाशक हैं। यह प्रबन्ध उनके विमर्शका स्पर्श नहीं कर सकता।

इसके अनन्तर ऐतिहासिक क्रम-से हमारी दृष्टि सबसे पहले श्री लीलाशुक पर जाती है, जिन्होंने श्रीकृष्णकर्णामृत-माधुरीसे निखिल संस्कृत-वाङ्मयको मधुर-मधुर बना दिया है। विद्वानोंमें मतभेद होनेपर भी हम इन्हें केरलका ही सत्पुत्र मानते हैं। केरलमें इनकी कथा सबकी वाणीपर नृत्य करती है। इन्हें यहाँकी भाषामें सकलकला-कलाप-वाग्विलास-वाचस्पति कहते हैं। उसका सार यह है कि पहले किसी वेश्यासे इनका प्रेम हो गया था। उस प्रेमने

मरणको तृण बना दिया। लोक-मर्यादाका विस्मरण करा दिया और अनन्त हो फूट पड़ा उस वेश्याके मुखसे इस रूपमें कि 'यदि तुम ऐसा प्रेम ईश्वरसे करते तो तुम्हारा कल्याण हो जाता।' इसी वेश्या-वचनने लीला-शुकको संज्ञान दिया, उनके हृद्‌गत प्रेमका प्रवाह भगवान्‌की ओर मुड़ गया। भक्ति-बीज अंकुरित हुआ। ध्यान-सत्संगके जलसे सींचा गया। वह भक्ति-लता बन गया। उसी भक्ति-लताके कभी न मुरझानेवाले फूल 'श्रीकृष्णकर्णामृत' काव्यके रूपमें खिले। भक्त-भ्रमर उसकी सुगन्धसे आकृष्ट होकर अमृत-रसका आस्वादन करते हैं और जीवदशामें ही किसी विलक्षण जीवन्मुक्तिके आनन्दका अनुभव करते हैं और अपने आपको कृतार्थ करते हैं। इनके घरका नाम 'विल्वमंगल' था। कोई-कोई ऐसा मानते हैं कि 'विल्वमंगल' और 'लीलाशुक' नामके केरलमें ही तीन विद्वान् कवि हुए हैं; परन्तु तीन होनेमें कोई परिपुष्ट युक्ति न होनेके कारण कवि, वैयाकरण और भक्त-चूड़ामणिके रूपमें एक ही व्यक्ति प्रसिद्ध हुए हैं—ऐसा केरलीय चरित्र-साहित्यके लेखकोंका कथन है। अस्तु, यह हमारा विषय नहीं है। हम प्रकृत वस्तुका ही अनुसरण करना चाहते हैं। यह भी कहा जाता है कि बंग भाषामें इस ग्रन्थका बहुत प्रचार है और वहाँ इसपर अनेक टीकाएँ भी हुई हैं। ऐसा होनेपर भी महाकवि कर्णपूर बंगीय हैं—ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि ईसाकी तेरहवीं शताब्दीमें बंगालमें 'सदुक्ति-कर्णामृत'का संग्रह किया गया, परन्तु उसमें 'श्रीकृष्णकर्णामृत'का एक भी श्लोक उद्‌धृत नहीं किया गया। ऐसी गुण-प्रचुरकृतिके वहाँ विद्यमान रहते हुए भी इस प्रकारकी उपेक्षा युक्तिसंगत नहीं लगती। यह तो प्रसिद्ध ही है कि महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव इस ग्रन्थको बंगालमें ले गये। इसलिए यह केरलीय-कृति ही है—इस सिद्धान्तको दृढ़ करनेके लिए केवल एक बात कह दी है।

प्रस्तुत काव्यके लोकोत्तर साहित्यके मूल्यांकनके सम्बन्धमें क्या कहा जाय ? 'मधुराविजय' काव्यकी कवयित्री गंगादेवीने इसके सम्बन्धमें जो कुछ कहा है, वह आज भी स्मरण करने योग्य है—

मन्दार मञ्जरीस्यन्दि - मकरन्दरसाऽऽधयः।
कस्य नाऽऽह्लादनायालं कर्णामृतकवेर्गिरः॥

कर्णामृत कविकी वाणी मन्दार-मञ्जरीसे निःस्यन्द मकरन्द-रसकी निधि हैं। वे भला, किसको आह्लादित करनेके लिए पर्याप्त नहीं हैं ? आइए, इस मधु पयोनिधिमें किञ्चित् अवगाहन करें। स्वयं कवि अपने मनमें एक लालसा संजोकर कवि-कर्मके लिए अग्रसर होता है।

मम वाचि विजृम्भतां मुरारेर्मधुरिम्णः कणिकापि कापि-कापि।

मदनमोहन श्यामसुन्दरकी मधुरिमाके कुछ नन्हें-नन्हें सीकर मेरी वाणीमें स्फुरित हों।

इसमें सन्देह नहीं कि भक्त-वाञ्छा-कल्पतरु भगवान्ने अपने भक्तकी यह प्रार्थना अपेक्षासे भी अधिक पूर्ण की—यह बात कर्णामृतके रसास्वादन-लम्पटोंको ज्ञात ही है। यह काव्य क्या है, अमृतकी नदी। इनमें-से कितने पद्य-बिन्दुओंको उद्धृत किया जाय। देखिए—

अखण्डनिर्वाणरस-प्रवाहैर्विखण्डिताशेषरसान्तराणि।
अयन्त्रितोद्वान्त-सुधार्णवानि जयन्ति शीतानि तव स्मितानि॥

तुम्हारी मुसकानने अखण्ड परमानन्दरसकी धारासे सभी दूसरे रसोंका तिरस्कार कर दिया है। वह बे-रोकटोक असीम सुधा-समुद्रोंको उगलती जा रही है। जय हो, जय हो, उन राशि-राशि शीतल स्मितकी धाराओंकी।

भगवान्को स्मित धाराके सम्बन्धमें कविका यह वचन उसकी सभी सूक्तियोंके सम्बन्धमें कहा जा सकता है। प्रायः देखनेमें आता है कि भक्त-भक्तिकी अनन्यताके कारण अपने इष्टदेवके अतिरिक्त किसी और देवताके प्रति विमुख हो जाते हैं। उनकी बुद्धिमें कुछ संकीर्णता और असहिष्णुताका प्रवेश हो जाता है, परन्तु यह कवि कृष्णातिरिक्त तत्त्वमें प्रीति न होनेपर भी उन्मुक्त-हृदयसे बोलता है—

शैवा वयं न खलु तत्र विचारणीयं, पञ्चाक्षरीजपपरा नितरां तथापि।
चेतो मदीयमतसीकुसुमावभासं स्मेराननं स्मरति गोपवधूकिशोरम्॥

हम निःसन्देह शैव हैं और साथ-ही-साथ शिवपञ्चाक्षर मन्त्रके जपमें नितान्त निष्ठावान् हैं, तथापि हमारा हृदय अतसी-कुसुम सुकुमार श्यामसुन्दर गोपीजन-वल्लभका ही स्मरण करता रहता है। अहा! उसके मुखपर कैसी मन्द-मन्द मुसकान खेल रही है।

मूल्यांकन-शास्त्रविशारद विद्वानोंका अभिमत है कि किसी भी वस्तुमें सत्य, शिव एवं सुन्दरका होना अनिवार्य है। इनमें सौन्दर्यकी महिमा सर्वातिशायी है। यह निर्विवाद और अकाट्य है कि सौन्दर्य ही इस सृष्टिमें अवतीर्ण होकर सहृदयोंको आह्लादित करता है। सौन्दर्यके अधिष्ठातृ देवता कृष्ण हैं। श्रीलीला-शुक उनके सौन्दर्य-दर्शनकी अनुभूतिको इस प्रकार अभिव्यञ्जना देते हैं—

अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः स्वानन्दसिंहासनलब्धदीक्षाः।
शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन॥

अद्वैतपथके पथिक हमारी उपासना किया करते थे। स्वराज्य सिंहासनपर

हमारा अभिषेक हो गया था। ऐसी असाधारण स्थितिके हम लोग, आश्चर्य है! किसी गोपाङ्गना-लम्पट शठके द्वारा हठात् दास बना लिये गये। श्रीकृष्णके पराधीन हो जाना परम स्वतन्त्र ब्रह्मानन्दसे भी अधिक लोभनीय है, इसलिए बिल्वमंगल शर्करा-सम्पत्तिकी उपेक्षा करके शर्करास्वादनको ही परम आदर देते हैं।

वस्तुतः यह कवि-मुकुट-मणि आधुनिक समीक्षकोंकी दृष्टिसे गूढ़ार्थवादी अथवा रहस्यवादी कहने योग्य है। जब कवि अपने शब्दातीत अनुभवको कथंचित् अभिव्यक्ति देनेके लिए सारस्वत-ज्योतिकी उपासना करता है, तब वह साहित्य-रीतिके अनुरूप गुण-अलङ्कार आदिकी समाग्रीका प्रयोग करता है। श्रीकृष्ण परमात्मास्वरूप हैं। कवि उन्हींके अभिव्यंजनके लिए गुणालंकार-प्रचुर काव्य उपस्थित करता है, परन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। अनेक पद्योंके पाठसे ऐसा प्रतीत होने लगता है कि इसकी रचनामें कविका कोई प्रयत्न नहीं है। प्रकृति स्वयं उसके हाथोंसे लेखनी छीन लेती है और अपने राशि-राशि अन्तः-सौन्दर्यको काव्य-मौक्तिकके रूपमें बिखेरने लगती है। यहाँ इतना संशोधन और अपेक्षित है कि इनकी लेखनी प्रकृति नहीं, पुरुषोत्तम छीन लेते हैं और उसमें अपनी सुषमा सँजो-सँजोकर दिव्य-दीप्तिसे उद्भासित कर देते हैं—

> अव्याजमञ्जुलमुखाम्बुजमुग्धभावै—
> रास्वाद्यमाननिजवेणुविनोदनादम्।
> आक्रीडतामरुणपादसरोरुहाभ्या—
> मार्द्रे मदीयहृदये भुवनार्द्रमोजः॥

जो अपनी वंशी-ध्वनिका स्वयं रसास्वादन कर रहा है; क्योंकि उसके सहज सुन्दर, मञ्जु-मधुर, मुग्ध-मुग्ध मुखारविन्दसे नवीन-नवीन भावोंकी अभिव्यक्ति हो रही है, जिसकी आह्लादिनी- वेणुध्वनि कण-कणमें व्याप्त हो रही है, जिसने अपनी रस-माधुरीसे सम्पूर्ण विश्वको रसीला बना दिया है, वह सर्वोत्कृष्ट ज्योति मेरे रसीले हृदयमें अपने चरण-कमलोंसे नृत्यकी गतिपर पाद-विन्यास करते हुए चिरकाल तक क्रीडा करे।

पहले ही कहा जा चुका है कि यह कवि कोई रहस्य लेकर काव्य जगत्में अवतीर्ण हुआ है। इसके चित्तमें मधुर-भावका आवेश है। वह कौन-सा रहस्य है, जिसको प्रकट करनेके लिए शत-शत, अनवद्य, हृद्य पद्योंकी सृष्टि करता जा रहा है? अच्छा तो, वह भी सुन लीजिए—

> वरमिममुपदेशमाद्रियध्वं निगमवनेषु नितान्तचारखिन्नाः।
> विचिनुत भवनेषु वल्लवीनामुपनिषदर्थमुलूखले निबद्धम्॥

निगम-बनमें भटकते-भटकते आप नितान्त श्रान्त और क्लान्त हो चुके हैं। आइये, मेरे इस श्रेष्ठ उपदेशका आदर कीजिये। उपनिषदोंके अर्थको वहाँ मत ढूढ़िये, गोपियोंके गोष्ठमें ढूढ़िये। वह देखिये, वह ऊखलमें बँधा हुआ है।

सचमुच यह कवि गीताके 'क्लेशोऽधिकतरः०' का कितना सुन्दर अनुवाद उपस्थित करता है और साथ ही भावैकवेद्य-सच्चिदानन्द-वस्तुको अपने वचनामृतोंसे साकार करके नेत्रोंके सम्मुख उपस्थित कर देता है।

कवि-प्रतिभाकी दृष्टिसे कनिष्ठिकाके मूलमें गणना करने योग्य केरलके संस्कृत कवि नारायणभट्ट, जिन्होंने स्तोत्ररत्न 'नारायणीय'के द्वारा गुरुवायूरके श्रीकृष्णकी कीर्तिका दिग्दिगन्तमें विस्तार किया है। ईसाके १५६० सन्में प्रकट होकर इन्होंने १६६६में शरीर छोड़ा। ये प्रकाण्ड पण्डित थे और सिद्धान्तकौमुदीके समान 'संस्कृत प्रक्रिया-सर्वस्व' नामक व्याकरणका निर्माण किया है। इन्होंने अपने मुखसे-ही अपने शास्त्रज्ञानका परिचय दिया है। इन्होंने माधवाचार्यसे सम्पूर्ण वेद, अच्युत पण्डितसे व्याकरण, दामोदरसे न्याय और स्वयं अपने पिताश्रीसे पूर्वोत्तर मीमांसाका अध्ययन किया था। उनके बनाये हुए भिन्न-भिन्न विषयोंके पन्द्रह ग्रंथ मिलते हैं। यहाँ उनकी चर्चाका प्रसंग नहीं है। इनकी रचनामें उदात्त भाव, रसानुगुण, रीति-वैचित्र्य, शास्त्रीय-वैदुष्यका उचित सन्निवेश सर्वत्र उपलब्ध होता है। इस महाकविकी कृतियोंमें रस-तात्पर्य-मूलक सौभाग्य पद-पदपर प्राप्त होता है।

अब 'नारायणीयम्' के सम्बन्धमें सुनिये। यद्यपि यह काव्य श्रीमद्भागवतका सार-संग्रह है, तथापि प्रतिपाद्यके स्वभाव और काव्यके विशेष गुणके कारण यह अपूर्व काव्य-सौन्दर्यको पुष्ट करता है। इस कविको वातरोग था, उससे मुक्त होनेके लिए उसने 'गुरुवायूर' में भगवान् श्रीकृष्णकी शरण ग्रहण की; क्योंकि वस्तुतः वही भवरोगके एकमात्र वैद्य हैं और वहाँ अपने वैभवका प्रकाश करके विराजमान हैं। इन्होंने प्रतिदिन दस-दस श्लोकोंके क्रमसे प्रायः सहस्र पद्य-पुष्पोंसे उनकी आराधना की और थोड़े ही दिनोंमें रोग-मुक्ति प्राप्त की। इन्होंने अपने भक्ति-रसार्द्र काव्य-रचनाके द्वारा भगवान्को प्रसन्न कर लिया। इनके काव्यमें जो रस-सम्पत्ति, भाव-वैचित्र्य, गुण-भूमा, अलंकार-प्राचुर्य उपलब्ध होता है, वह पद-पदपर इनकी कवि-प्रतिभाके प्रति आदरातिशय उत्पन्न करनेके लिए पर्याप्त है। यह भक्तिका मुक्तिके प्रति निरतिशय साधनके रूपमें वर्णन करता है। इनका कहना है कि यह कलियुगका समय सर्वोत्कृष्ट है; क्योंकि इसमें मुरारि मुकुन्दके संकीर्त्तनादि रूप सरल मार्गसे ही मनुष्य अविलम्ब भगवत्-प्रसाद प्राप्त कर लेता है। भट्टनारायणके मतमें यह अद्वैत-भाव प्रभवा-भक्ति

साक्षात् मोक्ष-साधन है। यह भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंकी मान्यताके समान केवल किसी विशेष देवतासे सम्बद्ध नहीं है और न तो किसी दूसरे देवताके प्रति द्वेष ही उत्पन्न करती है। इनका कहना है कि औपनिषद्-विद्वान् सर्व-निषेधावधि रूपमें जिसका वर्णन करके लक्षणावृत्तिसे यथाकथञ्चित् अपरोक्ष साक्षात्कार करवाते हैं, उसी परमसुखको मैं नमस्कार करता हूँ।

शिष्टं यत्स्यान्निषेधे सति निगमशतैर्लक्षणावृत्तितस्तत्।
कृच्छ्रेणाऽऽवेद्यमानं परमसुखमयं भाति तस्मै नमस्ते॥

कविको गुरुपवनपुराधीश भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् परब्रह्म ही ज्ञात होते हैं—यह बात उन्होंने मुक्तकण्ठसे कही है।

निष्कम्पे नित्यपूर्णे निरवधिपरमानन्दपीयूषरूपे
निर्लीनानेक मुक्तावलि-सुभगतमे निर्मलब्रह्मसिन्धौ।
कल्लोलोल्लासतुल्यं खलु विमलतरं सत्यमाहुस्तदात्मा
कस्मान्नो निष्कलस्त्वं सकल इति वचस्त्वत्कलास्वेव भूमन्॥

हे परमानन्द प्रियतम! निष्कम्प, नित्यपूर्ण, निरवधि परमानन्दामृत, निर्मल ब्रह्मसिन्धुमें जो अनेक मुक्तावलिके निलयनसे अत्यन्त सुभगतम है। यह सत्य कल्लोलोल्लास-तुल्य परम विमल है। इसीको आत्मा कहते हैं। इसलिए प्यारे हम चाहे सकल कहें या निष्कल—यह दोनों शब्द तुम्हारी कलाओंके ही वाचक क्यों नहीं हैं।

रसोपयोगी शब्द-विन्यासमें यह कवि अत्यन्त निपुण है। वात्सल्य रसका उदाहरण देखिये—

स्नुतकुचभरमङ्के धारयन्ती भवन्तं
तरलमतियशोदा स्तन्यदा धन्यधन्या।
कपटपशुप! मध्ये मुग्धहासाङ्कुरं ते
दशनमुकुलहृद्यं वीक्ष्य वक्त्रं जहर्ष॥

स्नेहमयी यशोदा तरलित हृदयसे आपको गोदमें लेकर स्वतःक्षरित दुग्धका पान करा रही हैं। धन्य है, धन्य है, यह दूध पिलानेवाली। ग्वाल-बालका स्वांग करनेवाले कृष्ण! जब दूध पीते-पीते बीच-बीचमें आप हँस देते हैं और मुग्ध-मुग्ध दुग्ध-बिन्दुसे दन्तमुकुल चमक उठते हैं तब आपके हृद्य मुखारविन्दको देखकर आनन्दमग्न हो जाती हैं।

इस वाङ्मयचित्रका आधार लेकर कोई भी कला-कुशल व्यक्ति अत्यन्त रमणीय किसी नूतन जननी-तनयके चित्रको भी रचना कर सकता है। इसी

मधुर-कोमल-कान्त पदावलिका रचयिता जब रौद्र, भयानक आदि रसोंका उत्थापन करने लगता है तब उसका शब्द-विन्यास उत्कट घटाटोप धारण कर लेता है।

ततस्वर्णसवर्णघूर्णदतिरूक्षाक्षं सटाकेसर-
प्रोत्कम्प-प्रनिकुम्बिताम्बरमहो जीयात्तवेदं वपुः।
व्यात्तव्यासमहादरी-सखमुखं खड्गोवल्गन्महा-
जिह्वानिर्गमदृश्यमानसुमहादंष्ट्रायुगोड्डामरम् ॥
उत्सर्पद्वलिभङ्गभीषणहनु ह्रस्वस्थवीयस्तर-
ग्रीवं पीवरदोःशतोद्गतनखक्रूरांशु दूरोल्वणम्।
व्योमोल्लङ्घिघनाघनोपमघनप्रध्वाननिर्धावित-
स्पर्धालुप्रकरं नमामि भवतस्तन्नारसिंहं वपुः॥

हिरण्यकशिपुपर क्रुद्ध नरसिंहका वर्णन करनेके लिए यह विकटाक्षरबद्ध श्लोक कितना प्रसंगोपयुक्त है। रौद्र-रसका अनुभव करानेके लिए मानो यह मेघ-घटाका अनुकरण करते हुए पटुतर कटुध्वनि करते हों।

हिरण्यकशिपुके संहारके अनन्तर ब्रह्माण्डकी क्या अवस्था हुई, इसका वर्णन करते हुए महाकवि कहता है—भूमि अपनी कक्षासे भटक गयी, समुद्र काँप उठे, पहाड़ोंको कँपकँपी होने लगी, ग्रहमण्डल अपने पथसे भ्रष्ट हो गया। चराचरकी अवस्था स्थितिहीन हो गयी। उन्हींके शब्दोंमें सुनिये—

भ्राम्यद्भूमिविकम्पिताम्बुधिकुलं व्यालोलशैलोत्करं
प्रोत्सर्पत्खचरं चराचरमहो दुःस्थामवस्थां दधौ।

यह पद-विन्यास त्रिलोकीके भाग्य-परिवर्तनकी छटाका वर्णन करनेमें समर्थ है।

कालिय-मर्दनके लिए उद्यत लीला-बालगोपालका वर्णन करते समय इस कविकी वर्णन-शैली एक लोकोत्तर सौन्दर्य-छटा बिखेर देती है। वे सर्पका वर्णन करते हुए कहते हैं कि उसके सहस्र-सहस्र फणोंसे जलते हुए नेत्र मानो बाहर निकल आये हों और विषकी वर्षा कर रहे हों। ज्वलदक्षिसे परिक्षरत, उग्रविष, साँसोंकी ऊष्मा चारों ओर व्याप्त हो रही है। अवश्य ही श्रोताके हृदयमें भयानक रसका सञ्चार करनेके लिए यह वर्णन पर्याप्त शक्तिशाली है। जब बालगोपाल कालियनागके सिरपर अधिरूढ़ होकर अपनी मृदुपाद कान्तिसे नृत्य करने लगे, उस समय कविकी पदावलि भी नृत्य करने लगती है। सुनिये—

कलशिञ्जितनूपुरमञ्जुमिलत्करकङ्कण-संकुलसंक्वणितम्।

और जिन्होंने इस नृत्यको देखा, उनकी क्या दशा हुई?

जहृषुः पशुपास्तुतुषुर्मुनयो ववृषुः कुसुमानि सुरेन्द्रगणाः।

ग्वालहृष्ट, मुनितुष्ट देवताओंके द्वारा पुष्पोंकी वृष्टि। यह शब्दोपन्यास मृदु-मृदु पुष्पोंकी वर्षाकी ध्वनिका अनुकरण करता-हुआ-सा जान पड़ता है।

यदि इस कविके रचना-कौशलका वर्णन करते समय रास-लीलाके प्रसंगका स्मरण न किया जाय तो बड़ा अन्याय हो जायगा। केवल ग्यारह पद्योंमें समग्र रासका वर्णन, उदार आशय, मधुरातिमधुर रचना और रसोल्लासकी चरमसीमा।

वेणुनाद-कृत-तानदान-कलगान-राग-गतियोजना-
लोभनीयमृदुपाद-पात-कृत-ताल-मेलन-मनोहरम्।
पाणिसंक्वणित-कङ्कणञ्च मुहुरंसलम्बितकराम्बुजं
श्रोणिबिम्बचलदम्बरं भजत रासकेलिरसडम्बरम॥

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि श्लोक-रचना स्वयं नृत्य करती हुई-सा जान पड़ती है और गीत-संगीतके एक-एक पद सम्भोग-शृङ्गारको अनुध्वनित कर रहे हैं।

केरलका कवि विनोदप्रिय होता है। नर्मोक्ति-चातुरी देखनी हो तो मलयालमकी विनोद-वाटिकामें विहार कीजिये। नारायण भट्टपादमें भी यह गुण प्रगुणित रूपमें देखा जा सकता है।

मम खलु बलिगेहे याचनं जातमास्ता-
मिह पुनरबलानामग्रतो नैव कुर्वे।
इति विहितमतिः किं देव सन्त्यज्य याच्ञां
दधिघृतमहरस्त्वं चारुणा चोरणेन॥

मैंने बलिगृहमें (राजा बलिके घरमें अथवा बलवान्‌के घरमें) याचना की थी परन्तु ये गोपियाँ और गोप तो अबला हैं, अबल हैं, इनके घरमें क्यों माँगू? सम्भव है यही सोचकर आपने माँगनेका मार्ग छोड़कर चारु-चोरीका मार्ग पकड़ा और व्रजवासियोंके घरसे स्निग्ध पदार्थ चुराये।

यह कवि भगवान्‌को विरहमें अंगारमय और संयोगमें शृङ्गारमय बनाकर ही संतुष्ट नहीं होता, समागममें भी अँगारमय कर देता है। इसकी बुद्धिमें प्रेम-भक्ति ही स्वादीयसी और श्रेयसो है। इन्हें गुरुपवनपुरके स्वामीके सिवाय दूसरा कोई अपना प्रियतम एवं आश्रयणीय नहीं है। इनके बीससे भी ऐसे अधिक ग्रन्थ हैं, जिनका रंगमंचपर अभिनय किया जाता है। यह नाटच,

व्याकरण या मीमांसा सम्बन्धी ग्रन्थोंके आलोचन-प्रत्यालोचनका समय नहीं है। यह कहते हैं कि भक्तिजन्य सुखके समान सृष्टिमें दूसरा सुख नहीं है। इन्हें 'नारायणीयम्' लिखते-लिखते अन्तिम शतककी रचना करते समय भगवान्का साक्षात् दर्शन हुआ था। इन्होंने स्पष्ट लिखा है कि मैं अपनी आँखोंके सामने भगवान्के ज्योतिर्मय साकार रूपका दर्शन कर रहा हूँ।

इन्होंने अपना सब कुछ भगवान् श्रीकृष्णके प्रति समर्पित कर दिया था। इनका कहना है कि मन्द-मन्द मुसकान-रसीले नेत्र पूर्ण ब्रह्म नन्दनन्दन-वस, उनके ही चरणोंमें मैं अपना सर्वस्व होम रहा हूँ। वे करुणासिन्धु मुझपर अभी-अपनी प्रीति बरस दें—

सर्वं तत् प्रजुहोमि नन्दतनये मन्दस्मितार्द्राननने।
पूर्णब्रह्मणि तूर्णमेष करुणासिन्धुर्मयि प्रीयताम्॥

इसी 'नारायणीयम्' के लेखक भट्टपादकी प्रेरणासे उनके समकालीन शैलाब्धीश्वर पदवीधारी कुक्कुटक्रोडके राजा श्रीमान् मानवेदराजने भी भगवत्सम्बन्धी उत्कृष्ट रचना की है। उन्होंने अवतार, कालियमर्दन, रासक्रीडा, कंसवध, स्वयंवर, बाणयुद्ध, द्विविदवध इत्यादि विषयोंका आश्रय लेकर श्लोक एवं संगीतकी रचना की है जो 'कृष्णाष्टक' के नामसे प्रसिद्ध है। ऐसा लगता है जैसे दूसरे जयदेव ही गान कर रहे हों। ये साथ-ही-साथ वैयाकरण, महाकवि एवं भगवद्भक्त थे। तुलनामें ये नारायण भट्टके समकक्ष ही रखने योग्य हैं।

रसास्वादनके लिए इनकी केवल दो रसमयी रचना परिवेषित की जा रही है—

केलीलोलमुदारनाद-मुरलीनालीनिलीनाधरम्,
धूलि-धूमिल-कान्त-कुन्तलभर-व्यासङ्गि-पिच्छाञ्चलम्।
नालीकायतलोचनं नवघन-श्यामं क्वणत्किङ्किणी-
पाली-दन्तुर-पिङ्गलाम्बरधरं गोपालबालं भजे॥
लोलम्बावलिलोभनीयसुषुमं लोलं विहारे वधू-
जालं व्याकुलयन्तमस्फुटगिरं व्यालम्बिकाञ्चीगुणम्।
आलम्बं जगतां मुखाम्बुजगलल्लालं गलान्तोल्लसद्-
वालं त्वां हरिदम्बरं मम मनोबालं बतालम्बते॥

●

जिज्ञासाकी आवश्यकता

(अनन्तश्री स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

★ • ★

जिज्ञासा किस वस्तुकी होती है ? जो अज्ञानसे आवृत हो, विपर्यय तथा सन्देहका विषय हो और जिसके विचारसे किसी प्रयोजनकी सिद्धि होती हो। स्वच्छ प्रकाशमें स्थित घट अथवा काक-दन्तकी परीक्षा करनेके लिए किसीकी प्रवृत्ति नहीं होती। साथ ही जो सामान्य रूपसे प्रसिद्ध एवं विशेष रूपसे अप्रसिद्ध है, उसीके लिए जिज्ञासा होती है और उसके सम्यक् ज्ञानकी प्राप्तिके लिए विचार किया जाता है। ब्रह्मात्मतत्त्व प्रमातारूपसे अत्यन्त प्रसिद्ध है; क्योंकि प्रमाता अपनेसे भिन्न प्रमेयकी प्रसिद्धिके लिए प्रमाणका अन्वेषण करता है। अपनी प्रमितिके लिए प्रमाणका अन्वेषण कभी नहीं करता। अतः अहं रूपसे आत्मा अपरोक्ष एवं स्वतःसिद्ध है। जिसकी प्रसिद्धिसे ही सम्पूर्ण प्रपञ्च प्रसिद्ध है, उसकी प्रसिद्धि सर्वथा असन्दिग्ध है। केवल इतना ही नहीं, सबसे प्रथम आत्मा ही भासमान होता है। उसके भानके पश्चात् ही सभी वस्तुएँ भासमान होती हैं। उदाहरणार्थ, दर्पणकी प्रतीतिके पश्चात् प्रतिबिम्बकी प्रतीति अथवा आलोककी प्रतीतिके अनन्तर नील-पीतादि रूपकी भासमानता। ऐसा होनेपर भी श्रुति परिपूर्ण परमानन्द ब्रह्मस्वरूपसे उसका निरूपण करती है। ठीक ही है, क्योंकि आत्माके स्वतःसिद्ध अपरोक्ष रूपमें भासमान होनेपर भी उसकी परमानन्द-पूर्णता प्रतीत नहीं होती। इतना ही नहीं, उसके विपरीत परिच्छिन्नता आदि प्रतीत होती है। अतः आत्मा स्वतःसिद्ध रूपसे सामान्यतः प्रसिद्ध होनेपर भी ब्रह्मरूपसे वह अप्रसिद्ध ही है।

यद्यपि ब्रह्म भी सत्ता एवं बोधके रूपमें प्रसिद्ध ही है तथापि उसकी निष्प्रपञ्चता एवं निर्विशेषता, जो कि श्रुतिमें पुनः-पुनः कही गयी है, भासमान नहीं होती। अतः ब्रह्म भी सामान्य रूपसे प्रसिद्ध एवं विशेष रूपसे अप्रसिद्ध ही है। यही कारण है कि आत्मा और ब्रह्मकी जिज्ञासा हो सकती है। स्वयंप्रकाश ब्रह्मात्मामें

सूर्यमें अन्धकारके समान अज्ञान सम्भावित नहीं है और बिना अज्ञानके संशय-विपर्यय आदि बन नहीं सकते। यहाँ तक कि प्रमाण-प्रमेयादि रूप समस्त प्रतिकर्म व्यवस्था ही अज्ञान-पर निर्भर करती है। अज्ञात ही प्रमेय होता है और उसका ज्ञापक ही प्रमाण। वेदान्तकी रीतिसे मुख्य प्रमेय आत्मा ही है; क्योंकि स्वप्रकाश होनेसे उसीमें अज्ञानकी असत्त्वापादक और अभानापादक आवरणशक्ति सार्थक हो सकती है। इसी प्रकार अद्वितीय ब्रह्ममें अज्ञानके बिना द्वैत-प्रपञ्चका आभासरूप विपर्यय भी नहीं बन सकता। अज्ञानके बिना असत्यमें सत्यत्वभ्रान्ति, देहादिमें आत्मत्वका ग्रह भी सम्भव नहीं। इन सब कारणोंसे आत्मामें संशय-विपर्यय आदिका कारण अज्ञानमान्य है। वह ज्ञानाभावसे विलक्षण और भावरूप है। जैसे बीजमें अंकुरोत्पादनी शक्ति उससे विलक्षण होती है, वैसे ही सत्-स्वरूप ब्रह्ममें अनन्तब्रह्माण्डात्मक प्रपञ्चकी उत्पादनी शक्ति सत्से विल-क्षण मान्य है। वही शक्ति ज्ञानाभावसे विलक्षण भावरूप अज्ञान, अचित् आदि शब्दोंसे व्यवहृत होती है।

ब्रह्म जैसे स्वतःसिद्ध होनेसे अप्र-मेय है, वैसे ही अप्रसिद्ध होनेसे प्रमेय भी है। जो समान्यतः प्रसिद्ध हो, विशेषतः अप्रसिद्ध हो; उसीमें अज्ञान, भ्रान्ति, सन्देह, प्रमाण, प्रमा, जिज्ञासा एवं विचार आदि हो सकते हैं। अज्ञानकृत आवरणके बिना ब्रह्मका विचार्य होना नहीं बन सकता। इतना ही नहीं, अज्ञान तो हो, परन्तु अध्यास या भ्रम न हो तब भी आत्मा विचार्य नहीं हो सकता; क्योंकि सुषुप्तिमें आत्मा अज्ञात रहता है, अर्थात् वहाँ अज्ञान रहता है, तब भी अध्यास अथवा भ्रम न रहनेके कारण विचारकी प्रवृत्ति नहीं होती। यह भी ध्यान देने योग्य है कि विपर्यय होनेपर भी संशयकी उत्पत्ति हुए बिना जिज्ञासा नहीं हो सकती। यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि आत्मा सामान्यतः प्रसिद्ध होनेपर भी विशेषतः अप्रसिद्ध है, इसलिए उसमें अज्ञान, संशय तथा प्रपञ्च-विकल्पका स्पष्ट अनुभव होता है।

वेदप्रामाण्यवादी आस्तिक वेदके द्वारा आत्माकी ब्रह्मरूपताका श्रवण करता है, परन्तु प्रत्यक्षतः आत्मामें जीवत्वका अनुभव करता है। इसी प्रकार नेति-नेतिके द्वारा प्रपञ्चका बाध या मिथ्यात्व समझता है, परन्तु प्रत्यक्षतः उसे प्रपञ्च सत्य प्रतीत होता रहता है। अतः संशय होना स्वाभा-विक है। जीव और जगदादिका अधिष्ठान होनेके लिए जहाँ आत्माको अनिर्वचनीय शक्ति, अज्ञान अचित् अथवा तमकी अपेक्षा है, वहीं शक्ति अथवा अज्ञानको भी अपनी स्थिति, सत्ता और स्फुरणके लिए

अखण्ड ब्रह्मसत्ताकी अपेक्षा है। यही कारण है कि अज्ञान सच्चित् स्वरूपको आच्छादित नहीं करता; क्योंकि उसके बिना अज्ञानकी ही सिद्धि नहीं हो सकेगी। अज्ञान केवल उसके अद्वितीय, परिपूर्ण, आनन्द-स्वरूपको ही आवृत करता है। वही जीव जगदादि-भ्रमाधिष्ठान अज्ञानका आशय और विषय है। यदि अज्ञान सच्चित् रूपको आवृत करता तो वह स्वयं भी अप्रसिद्ध रहता और प्रपञ्च भी अप्रसिद्ध ही रहता। साथ ही यदि वह परिपूर्ण आनन्द रूपका आवरण नहीं करता तो वह स्वयं निरर्थक होता। इसीसे जीवेशादि विभाग-शून्य अखण्ड ब्रह्म ही अज्ञानका विषय एवं आश्रयमान्य होता है। फिर भी, यह नहीं समझना चाहिए कि सचिद्-द्रूप और अद्वयानन्द पृथक्-पृथक् वस्तु हैं। उनका कल्पित भेद होते हुए भी वस्तुतः सच्चित् परिपूर्ण आनन्द एक ही वस्तु है। जैसे सुदूरसे वृक्ष गृहीत होनेपर भी उसका स्वरूप-भूत भेद अगृहीत होता है, वैसे ही सच्चित्स्वरूप अज्ञानादि-साक्षीके रूपमें भासमान रहता है तो भी उससे अभिन्न उसकी परिपूर्णता, आनन्दरूपता अगृहीत होती है। सत्, चित् भी दो नहीं हैं। सत्‌की स्वप्रका-शता ही चिद्रूपता है और चित्‌की अत्यन्ताबाध्यता सद्रूपता है। इसी प्रकार आनन्द भी सच्चित्स्वरूपसे पृथक् नहीं है। फिर भी, व्यावर्त्य-भेदसे विभिन्न पदोंका भेद सार्थक नहीं, व्यर्थ नहीं। उसी सच्चित्स्वरूपमें दुःखात्यन्ताभावका अधिकरण होनेसे आनन्दरूपता एवं द्वैतात्यन्ताभावका अधिकरण होनेसे परिपूर्णरूपताका व्यवहार होता है। अज्ञान यदि सम्पूर्णरूपसे ब्रह्मको तिरोहित करे तो जगदान्ध्य-प्रसङ्ग होगा और अज्ञानकी प्रतीति भी नहीं होगी। अंशतः आवरण करे तो ब्रह्ममें निरंशता, अखण्डता बाधित होगी। अतः जैसे उपनेत्र द्वारा अस्थूल अक्षरोंमें ही स्थूलत्व बुद्धि होती है, वहाँ वह अक्षर-अक्षर रूपसे स्पष्ट प्रकट होनेपर भी अस्थूल (सूक्ष्म) रूपसे आवृत होता है। जैसे असूक्ष्म आदित्यमें प्रादेशिकत्वमात्रकी भ्रान्ति होती है, वहाँ आदित्यरूपसे आदित्य भासमान होनेपर भी असूक्ष्मरूपसे आवृत है। निरूप आकाशमें नील-रूपका भ्रम होता है, वहाँ भी आकाशकी निरूपता आवृत है, आकाशरूपता भासमान है। अह्रस्व वृक्षमें दूरसे ह्रस्वत्व बुद्धि होती है वह वृक्षरूपसे अनावृत है, अह्रस्वरूपसे आवृत है।

किसीको प्राची दिक्‌में प्रती-चीत्वका भ्रम होता है, वहाँ दिग्-रूपसे भान और प्राचीरूपसे अभान होता है। नौकारूढ़ लोगोंको निष्क्रिय तटस्थ वृक्षोंमें सक्रियत्वभ्रम होता

है। वहाँ वृक्षरूपसे अनावरण और निष्क्रिय रूपसे आवरण देखा जाता है। रज्जु-शुक्ति आदि द्रव्योंमें सर्पादिका भ्रम होता है। यहाँ भी द्रव्यरूपसे स्पष्टता, रज्ज्वादि रूपसे अस्पष्टता प्रसिद्ध है।

नित्यज्ञानमें मोहसे अनित्यत्व-बुद्धि होती है। ज्ञानत्वरूपसे उसका भान होनेपर उसकी नित्यता आवृत होती है। निष्प्रपञ्च स्वप्नभासकमें सप्रपञ्चका आरोप होता है, स्वयं-रूपसे स्वप्नभासक प्रसिद्ध है, परन्तु निष्प्रपञ्चता उसकी स्वरूपभूत होनेपर भी आवृत है। निःसामान्य-विशेष आत्मामें सामान्य-विशेषका व्यवहार उसी भानाभानके आधारपर होता है।

अनिदं रूपसे सत्में इदं सत्का आरोप होता है। सत्त्वरूपसे यहाँ भी अधिष्ठान भासमान है। अनिदं रूपसे वह प्रावृत ही है। अकर्तृत्वादि-रूप आत्मामें कर्तृत्वादिका भ्रम है। तथापि अहंरूपसे आत्मा भासमान है, अकर्तृत्वादिरूपसे आवृत है।

किं बहुना, तत्तद्विशेषशून्य सत्तामें तत्तद्विशेषकी कल्पना है। वहाँ सत्ता-रूप स्फुट है। तत्तद्विशेषशून्यता आच्छन्न ही है। इस प्रकार शुद्ध अखण्ड आत्मा ही अज्ञानद्वारा प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्धरूप होकर सर्वप्रपञ्चका अधिष्ठान बनता है। उसे ही श्रुतियाँ उपादानकारण एवं निमित्तकारण भी कहती हैं। जैसे मिथ्या अधिष्ठान नहीं होता, वैसे ही मिथ्या उपादान नहीं होता है। अधिष्ठानमें निषिद्ध वस्तुका भी अपने उपादानकारणमें सत्त्व ज्ञात होता है। परन्तु जो स्वोपादानमें निषिद्ध होता है, उसका कहीं भी अस्तित्व ज्ञात नहीं होता है। शुक्तिमें रजत निषिद्ध होनेपर भी उसका अपने उपादानमें सत्त्व मान्य होता है। परन्तु पटके उपादानभूत तन्तुमें पटका निषेध होनेसे उसका अस्तित्व कहीं भी ज्ञात नहीं होता है। कार्योंमें अतीत, अनागत वर्तमान अवस्थाओंमें जो रूप अनुवृत रहता है, वह सत् ही होता है, वही कारण होता है।

जैसे लोकमें शुक्ति अज्ञानद्वारा रजतरूपमें भासित होती है, वैसे ही ब्रह्म भी अचित् माया या अज्ञानद्वारा जीव-जगदादिरूपसे भासित होता है।

दर्शन-सामग्री होनेपर जो अन्वेषण करनेपर भी उपलब्ध नहीं होता, वह पदार्थ नहीं होता। अति दूरसे आकाशमें उड़ते हुए पक्षी नहीं दीखते, तो भी उनके सत्त्वका अपलाप नहीं होता। अति सामीप्यके कारण अञ्जन विद्यमान होनेपर भी उपलब्ध नहीं होता। अन्ध-बधिर आदिको इन्द्रिय-वैकल्यसे रूपादिका उपलम्भ नहीं होता; मनकी चञ्चलता या अन्यमनस्कतासे भी समीपकी वस्तु नहीं दीखती है। परमाण्वादि सूक्ष्मताके कारण नहीं उपलब्ध होते हैं।

कुड्यादिके व्यवधानसे गृहगत वस्तुका तथा अन्योच्चारण-सांकर्यसे पुत्रादिके शब्दोंका उपलम्भ नहीं होता है।

प्रपञ्चका प्रत्यक्ष भान होता है, अतः उसका असत्त्व कहना वदतो-व्याघात है। साथ ही श्रुति और युक्तिसे उसका निषेध होता है। अतः सत्त्व कहना भी कठिन है। तन्तुमें पट भासमान अवश्य है, परन्तु विचार करनेपर आतान-वितानात्मक तन्तुओंसे अलग पटका सत्त्व सिद्ध नहीं होता है। उसकी सत्ता जैसे भ्रान्तिमूलक ही है, वैसे ही कारणभूत ब्रह्मसत्तासे ही प्रपञ्चकी सत्ता भ्रान्तिसे प्रतीत होती है। कारणकी सत्ता ही कार्यकी सत्ता है। कारणकी दृष्टि ही कार्यकी दृष्टि भी है। स्पष्ट है कि तन्तु एवं मृत्तिकाके रूप, स्पर्श, गुरुत्वादिको तन्तु आदिमें ही देखकर पटादिको पृथक् देखनेसे उसका अस्तित्व सर्वथा बाधित होता है। यदि प्रमाणसे पटादि भासित हों, तभी उनका अस्तित्व मानना चाहिए, अन्यथा पटादिका मिथ्यावेशमात्र ही है। इसी तरह आत्मज्ञान-सत्ता एवं स्फूर्ति आत्मामें ही समझ लेनेपर प्रपंचकी सत्ता एवं दृष्टि कुछ भी नहीं सिद्ध होती है। जितना भी दृश्यप्रपंच हैं, विचार करनेसे उनकी सत्ता कारणकी ही सत्ता है। जैसे मृतिकासे उत्पन्न होनेवाले घटका मृत्तिकामें त्रैकालिक निषेध विदित होनेपर उसकी कहीं अन्यत्र सत्ता सम्भावित नहीं होती, इसी तरह आत्मासे उत्पन्न होनेवाले विश्व-प्रपंचका आत्मामें ही त्रैकालिक निषेध विदित होनेपर उसकी सत्ता कहीं अन्यत्र सम्भावित नहीं होती। 'नेति-नेति', 'अशब्द-मस्पर्श०' आदि निषेध-वाक्य विशेष-भावका बोध कराकर सामान्य, आत्म-सामान्य बोध कराते हुए, अन्तमें निःसामान्य विशेष ब्रह्मात्म-वस्तुमें पर्यवसित होते हैं। इसी तरह 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि वाक्योंका भी निर्विशेष ब्रह्म ही पर्यवसान है।

'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इत्यादि श्रुतियोंसे यह भी विदित होता है कि सृष्टिका कर्ता परमेश्वर है और वही प्रवेश क्रियाका भी कर्ता है। जो प्रवेष्टा परमेश्वर है, वही प्रविष्ट होकर 'त्वं' पदार्थके रूपमें व्यवहृत होता है। अतएव 'तत्त्वमसि' आदि वाक्योंसे 'तत्' 'त्वं' दोनों पदार्थोंका ऐक्य वोधित होता है।

फिर भी, वर्णाश्रमानुसार श्रौत-स्मार्त धर्मका भगवच्चरण-पंकज समर्पण बुद्धिसे अनुष्ठान करते-करते भगवान्‌की मंगलमयी कृपासे जब साधकका अन्तःकरण पवित्र होता है, तभी नित्यानित्यवस्तु-विवेक, वैराग्य, शमादि षट् सम्पत्ति तथा तीव्र बुभुक्षाके तुल्य उत्कट मुमुक्षाकी प्राप्ति होती है। उक्त-साधनों एवं सद्‌गुणोंके प्राप्त होनेपर सद्‌गुरु-प्राप्तिपूर्वक

किसीको मना मत करो

सौराष्ट्र प्रदेशके गोइलवाड़ (गोभिल) क्षेत्रमें राजकोट-भावनगर मार्गपर एक 'जानबाईकी देवड़ी' ग्राम है। देवीकी पूजा करनेके लिए दूर-दूरसे लोग आते हैं। वहाँ एक बावली है। उससे दूर-दूर तक खेतोंकी सिंचाई होती है। सब जगह सूखा पड़नेपर भी उसके जलमें कोई कमी नहीं आती है। उसपर सबको जल लेनेकी छुट्टी है। सदासे ही उसपर सब जल भरते, पीते आये हैं।

एक बार किसी ब्राह्मण पण्डितने हठ करके रोक दिया कि इस बावलीसे द्विजातिके अतिरिक्त कोई पानी न भरे। थोड़े ही दिनोंमें बावलीका पानी सूखने लगा। आस-पासके गाँवोंमें त्राहि-त्राहि मच गयी। लोगोंने प्रार्थना की। देवीने पुजारीको स्वप्नमें आदेश दिया कि 'हमारी बावलीका जल सबके लिए है। लोगोंको पानी लेनेसे रोक दिया गया—इसीसे सूख रहा है। देवी वस्तु सबके लिए होती है। किसीको पानी लेनेसे मना मत करो। फिर बावली भर जायगी।' देवीके आदेशका पालन करनेपर बावली फिर पानीसे ज्यों-की-त्यों भर गयी।

●

श्रवणादि बन सकते हैं और तभी पूर्वोक्त निष्प्रपंच ब्रह्मका साक्षात्कार होता है। यद्यपि ब्रह्म साक्षात्कारमें वेदान्त-महावाक्य ही परम प्रमाण होते हैं, तथापि उपक्रमोपसंहारादि षड्विध शास्त्र-तात्पर्य-निर्णायक लिङ्गोंद्वारा उपनिषदोंका ब्रह्मात्मामें तात्पर्यरूप श्रवणके बिना प्रस्फुट ब्रह्मात्मसाक्षात्कार नहीं हो पाता। इसलिए वेदान्त-शास्त्रमें श्रवण या विचारका विशेष महत्त्व है। श्रवण (विचारित वेदान्तों) द्वारा, श्रुतार्थका ही बुद्ध्यारोहणार्थ तर्कमय मननके द्वारा सुव्यवस्थापन किया जाता है। और उसीका विजातीय प्रत्ययानन्तरित सजातीय प्रत्यय-प्रवाह रूप निदिध्यासन किया जाता है। भले जीव वस्तुतः स्वप्रकाश, अखण्ड, अनन्त, सच्चिदानन्दघन ब्रह्माभिन्न ही है, तो भी श्रवण, मनन और निदिध्यासनके बिना उसका साक्षात्कारात्मक अनुभव नहीं होता।

●

हमारी सांस्कृतिक एकात्मताके प्रतिमान

श्री पी० जयरामन

संत शब्द पवित्रात्मा या सदाचारी महात्मा अर्थका वाचक है, किन्तु पारिभाषिक दृष्टिसे सन्त शब्दसे उस व्यक्तिका अर्थ लिया जाता है, जिसने सत्‌रूपी परम-तत्त्वका अनुभव कर लिया हो और जो अपने व्यक्तित्वसे ऊपर उठकर उसके साथ तद्रूप हो गया हो, अतः सन्त शब्दका प्रयोग उन महापुरुषोंके लिए किया जाता है, जो आत्मनिष्ठ होनेके अतिरिक्त समाजमें रहते हुए निष्काम भावसे विश्व-कल्याणमें प्रवृत्त रहते हैं। अपने रूढ़िगत अर्थमें इस शब्दका प्रयोग समाजमें निर्गुण भक्तोंके लिए किया जाता है।

भारतीय समाजमें सन्त अनेक हुए हैं। प्रत्येक जीवन-सन्दर्भमें सन्तों-का आविर्भाव हुआ है। भारतवर्ष नद-नदियों, वन-वनान्तरों एवं पर्वत-मालाओंसे अनेक भागोंमें बँटा हुआ है। विशेष रूपसे वेशभूषा, आचार-व्यवहार आदिकी दृष्टिसे उत्तर और दक्षिणका स्थूल भेद किया जाता है। विन्ध्यपर्वतमाला दोनों प्रदेशोंके बीच एक विभेदक रेखा बनकर अवश्य खड़ी है। साथ ही, उत्तर और दक्षिणकी भाषाओंके स्वरूपोंमें भी कम समानता पायी जाती है। किन्तु इन भौतिक एवं भौगोलिक विषमताओंके बावजूद भारतकी आत्मा अर्थात् उसकी संस्कृति या भावनात्मक आधार एक है; वह दिशा, बाह्य परिवेश, भाषाके परिधान आदिके भेदोंको पारकर भारतवर्षकी समग्रता एवं एकात्मताको सिद्ध करती है।

भावनात्मक एकताकी अन्यान्य विविधताओंमें से उभरनेवाली मौलिक एकता है। इस भावनात्मक अथवा सांस्कृतिक एकताके निर्माणमें वेदों, उपनिषदों, स्मृतियों एवं पुराणोंका महत्त्वपूर्ण योग रहा है, वास्तवमें वैदिक कर्मकाण्डों, औपनिषद् दार्शनिक तत्त्वों एवं पौराणिक कथाओं-की मूलभूत जीवनचर्चाओंने हिमाचल-से लेकर कन्याकुमारी तकके भूभाग-को अत्यन्त प्रभावित किया है। जैसे

प्रकृतिने स्वयं चारों दिशाओंसे घेरकर भारत-भूको विश्वके अन्य क्षेत्रोंसे अलग इकाईका स्वरूप दिया है, वैसे ही वेद, उपनिषद्, पुराण आदिने समस्त भौगोलिक व्यवधानोंको पार कर उत्तरसे निकलकर दक्षिणकी भावनाओं एवं चिन्तन-प्रक्रियाओंको अत्यधिक प्रभावित किया है और दक्षिणके वैष्णव 'आलवार' सन्तों तथा शंकर, रामानुज, मध्व आदि दार्शनिक सन्तोंने दक्षिणमें जन्म लेकर सारे भारतवर्षको—बदरीसे लेकर कन्याकुमारी तकके वातावरणको भक्ति, सदाचार एवं ज्ञानका वरदान दिया है और भारतीय जनमानसको अपने चेतन स्पर्शसे भौतिक विषमताओंसे मुक्तकर एकात्मताकी अनुभूतिसे उज्ज्वल बना दिया है।

वस्तुतः भारत एक है, उसकी आत्मा एक है, उसकी संस्कृति एक है, उसका जीवनक्रम एक है और इन सबके मूलमें निहित उसकी भावना एक है। सुदूर दक्षिणके तमिल सन्तों और उत्तर भारतके हिन्दीके सन्तोंकी वाणी इस तथ्यका प्रमाण है।

भारत धर्मप्राण राष्ट्र है। दर्शन-चिन्तन भारतीय सन्तोंकी नैसर्गिक प्रवृत्ति है। भारतीय जीवनके साथ ईश्वरीय भावना घुली-मिली रहती है। यही कारण है कि भारतमें दार्शनिक चिन्तनका अभूतपूर्व विकास हुआ है।

तमिल और हिन्दीके सन्तोंका साहित्य उनके जीवन-दर्शनकी ज्योतिसे उद्भासित है, भारतीय सन्त, जीवनमें और जीवनसापेक्ष दर्शनमें अद्वयताको स्वीकारते चले है, जहाँ कठोपनिषद्का कहना है, 'ब्रह्मतत्त्व घट-घटमें व्याप्त है, वह शून्य है। सूक्ष्म है और इस कारण सर्वव्यापी है।'

'अंगुष्ठमात्रः पुरुषः मध्ये आत्मनि तिष्ठति।'

और हिन्दीके सन्त-कवि कबीर इसी तथ्यको समझाते हुए जनसमाजको चेतावनी देते हैं।

'घट-घटमें वह साईं रमता कटुक वचन मत बोल रे!'

वहाँ सर्वं ब्रह्ममयंवाली अद्वयताकी यही भावना तमिलके आलवार सन्त नम्मालवारके पदोंके मूलमें भी विद्यमान है। उनका कहना है, 'घट-घटमें व्याप्त ईश्वरके अन्तर्यामी स्वरूपसे जीव अनभिज्ञ रहता है। वह यह भी नहीं जानता कि मैं ब्रह्मका अंश हूँ। अविद्यासे उसे कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान नहीं रहता (पेरिय तिरुवन्तादि)

सन्तोंने निराकार, निर्गुण, चेतनमय ब्रह्मतत्त्वकी सत्ताको मानते हुए भी उसे समस्त मानव-समाजके लिए ग्राह्य बनानेकी दृष्टिसे निर्गुण ब्रह्मतत्त्वकी सगुण ईश्वरीयताको भी मान्यता दी है; क्योंकि चाहे मार्ग कुछ भी हो, चरम साध्य एक ही है।

सगुण ईश्वरीयताकी आराधनाकी चरम उपलब्धि ब्रह्मतत्त्वकी स्वीकृतिमात्र है। ब्रह्मतत्त्वके पारखी तमिल सन्त तिरुवल्लुवरने कहा है, 'जैसे सभी वर्णोंका आदि अकार है। वैसे ही अखिल विश्वका आदि भगवान् है।' (तिरुक्कुरल—१) आलवार सन्तोंने राम-कृष्णकी गौरवगाथाका वर्णन करते हुए भी मूलभूत ब्रह्मतत्त्वकी व्याख्या द्वारा समाजको भक्ति एवं ज्ञानका अमृत मन्त्र दिया। इस सन्दर्भमें पेयालवारकी यह उक्ति द्रष्टव्य है, 'भगवान्का रूप-रंग अगम्य है। किन्तु भक्त जिस रूपको चाहता है, वही उसका रूप है। भक्त जिस ढंगसे उपासना करे, उसी ढंगसे ब्रह्म उसका उपास्य बन जाता है।' 'वह ईश्वर है। पृथ्वी, आकाश, वेद, वेदार्थ आदि सबमें उसीका वास है। उसका निवास मेरे हृदयमें भी है।' (मुदल-मुन्राम् तिरुवन्तादि)

इसी प्रकार सन्त-कवि कबीरने जनमानसके लिए ब्रह्मतत्त्वको स्वीकार्य बनानेकी दृष्टिसे सगुण-निर्गुण दोनोंकी उपादेयताको स्थापित करते हुए दोनोंके मूलमें निहित अणुमय परब्रह्मतत्त्वकी स्थापना की है :

"सगुणकी सेवा करो,
निर्गुणको करु ध्यान।
सगुण निर्गुण ते परे,
वहै हमारा ध्यान॥"

और सन्त तुलसीदासने भी कहा है, "सगुणहि अगुणहि नहि कछु भेदा, उभय हरहिं भवसंभव खेदा।" इन सन्तोंने ब्रह्मानन्दकी गम्भीरताको स्वीकार करते हुए भी जनकल्याणके लिए आराध्य भगवान्के स्वरूपकी विविध रूपसे परिकल्पना की है। कृष्ण-भक्त कवि सन्त सूरदासकी ये पंक्तियाँ इस प्रसंगमें उल्लेख्य हैं।

"अविगत आदि अनन्त अनुपम
अलख पुरुष अविनासी।
पूरन ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम
नित निज लोक निवासी॥"

महाराष्ट्र सन्त ज्ञानेश्वर महाराजने भी कहा है, "सगुण निर्गुण जपाची हीं अंगे, तो चि आम्हीं संगे क्रीड़ा करी।" इन भारतीय सन्तोंकी वाणी सनातन भारतीय भावनात्मक एकताकी परिचायिका है। उपनिषद्की उक्ति, "एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति," और गीताकी उक्ति, "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः वेदान्तकृत् वेदविदेव चाऽहम्" द्वारा ब्रह्मतत्त्वकी सर्वव्यापकता, विविधताओंके बीच एकता, सर्वान्तर्यामिता तथा भावनात्मक दृष्टिसे ब्रह्मकी भगवान्के स्वरूपमें स्वीकृति की जो अभिव्यक्ति हुई है, उसीकी विशद काव्यमय व्याख्या तमिल और हिन्दीके संत-कवियोंकी वाणीमें हुई है।

हिन्दी और तमिलके संत कवि सोऽहम्को तत्त्वतः स्वीकार करते हुए भी भावनाकी दृष्टिसे भक्तिसे आपूर्ण

थे, जीवकी मुक्तावस्थाका बोध होनेपर भी वे नित्य जीवनकी साधनामें भावुक भक्त थे, परन्तु जहाँ उन्हें दम्भ, कपट, मिथ्याचार, हिंसा, स्वार्थ आदि दिखायी पड़े, वहाँ उन्होंने उनका विरोधकर जब सामान्यको पावन-भक्तिकी मन्दाकिनीका वरदान दिया, दोनों भाषाओंके सन्त कवि निसर्गसिद्धि जीवनकी सात्त्विकतापर बल देते थे, जातीय भेदभावोंसे उत्पन्न सामाजिक विषमताओंकी प्रतिक्रियामें शीलवन्त समाजकी स्थापना करनेका महान् उद्देश्य लेकर वे मानव जातिको यह समझाते थे कि सच्चा मानव वही हैं, जो सदाचार, संयम, भूतदया, अहिंसा आदिका पालन करता हैं, सन्त कवि धरासाहबने कहा कि धर्मके वाहरी आचारोंका परित्यागकर उस मूल तत्त्वका चिन्तन करो, जहाँसे एक नहीं; सभी धर्म उत्पन्न होते हैं।

"मूल की खबरि नाहिं
जासों यह भयो मूलक
वाको बिसारी भोंदू
डारन अरुझायो है।"

कबीरने जातिवादके विरोध एवं चेतन मानवकी एकात्मताके समर्थनमें घोषणा की—

"जाँति पाँति पूँछे नहिं कोई
हरि को भजै सो हरि को होई।"

इसी प्रकार मानव-मानवके बीच जाति, वंश, धन आदिके कारण व्याप्त विषमतापर प्रहार करते हुए तिरुवल्लुवरने कहा, "जन्मसे मानवमात्र समान है, किन्तु सद्गुणों एवं सदाचारोंसे वह कुलीन होता है।" (तिरुक्कुरल-१७२), उन्होंने यह भी घोषणा की है कि ब्राह्मण उसीको कहा जाता है, जो समष्टिमात्रके प्रति स्नेहका आचरण करता है, (तिरुक्कुरल-३०) तिरुवल्लुवरने जातिकी महानताकी स्वीकृति किसीकी प्रवृत्ति एवं प्रवृत्तिजन्य कर्मके आधारपर की है।

इन सन्तोंका यह भी विश्वास है कि निगमकी उपासना करनेसे समाजमें व्याप्त ऊँच-नीचका भाव नष्ट हो जाता है, जैसे रैदासने कहा,

"जाति भी ओछी, करम भी ओछा,
ओछा कसब हमारा।
नीचे से प्रभु ऊँच कियो है,
कह रैदास चमारा।"

उनकी यह भी धारणा है कि निगमकी उपासना करनेसे गार्हस्थ्य और संन्यासके बीचकी दूरी समाप्त हो जाती है, रज्जबजीने कहा—

"एक जोग में भोग है,
एक भोग में जोग।
एक बुड़हिं वैराग्य में,
एक तरहिं सो गिरही लोग।"

यही तथ्य तिरुवल्लुवरके एक छन्दमें इस प्रकार उभर आया है, "परसेवामें गिरते गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासीका, उनके

अपने-अपने कर्मके पालनमें सहायक होता है" (तिरुक्कुरल-४१) स्थित-प्रज्ञ दशामें समस्त सृष्टिके मंगलकी कामना करनेवाले योगी संन्यासीका भी लोक-हितकारीके रूपमें स्थान तमिल सन्त-कवि तिरुवल्लुवरने स्वीकार किया है, इससे स्पष्ट है कि तमिल और हिन्दीके सन्त-कवि जीवन और समाजके अन्योन्याश्रित वर्गोंकी उपादेयताको स्वीकार करते हैं। सन्तोंके इस समाज-दर्शनके मूलमें सदाचरण और लोकमंगलकी साधना विद्यमान है, कबीर और तिरुवल्लुवरकी ये उक्तियाँ इसके प्रमाण हैं; 'परहित द्रवै सो सन्त पुनीता' और 'सन्त हृदय नवनीत समाना' तथा "एव्वुयिर्कुम् शेन्तण्मै पुण्डोलुहलान्" अर्थात् सन्त वही जो स्निग्ध हृदय है।'

हिन्दी और तमिलके सन्त-भक्त-कवियोंकी दृष्टिमें भगवान्के आराधक होनेके कारण भक्त भी पूज्य हैं। वे भक्तोंके सत्संगको भगवद्भक्तिका महत्त्वपूर्ण उदाहरण मानते हैं। सन्त तोंडरडिप्पोडि आलवारका कहना है, 'निर्मल जीवनयापन करते हुए भगवान्के ध्यानमें मग्न रहनेवाला भक्त भले ही नीच कुलका क्यों न हो, फिर भी तुम उसकी सेवा करो, पूजा करो; क्योंकि वह भगवान्के समान ही स्तुत्य है, और भगवान् भी उसकी भक्तिके वशीभूत है।" (तिरुमाले)

इस प्रसंगमें सन्त कबीरदासकी 'हरिजन हरि ही देत' वाली उक्तिके साथ सन्त मलूकदासकी इन पंक्तियोंका भी स्मरण हो जाता है—

"सब कोउ साहब वन्दते
हिन्दू मुसलमान।
साहेब तिसको वन्दता
जिसका ठौर ईमान।"

हिन्दी और तमिलके सन्त-कवियोंने समान रूपसे सात्त्विक एवं शीलवन्त जीवनकी उदात्तता स्थापित करनेके निमित्त तरल भावुक भक्तिको स्वीकारा है और उसके द्वारा मानवमें निष्काम एवं चराचर स्नेहमय जीवन-की महनीयताकी स्थापना करनेका प्रयत्न किया है। भक्तिकी अनन्यताके साथ ही उन्होंने साम्प्रदायिक एकात्मताकी भी प्रतिष्ठा करनेका धर्म निभाया है; क्योंकि उन्होंने इस सत्यका अनुभव किया कि अन्याय सम्प्रदायोंके मूलभूल तथ्यकी समानताके बावजूद सम्प्रदायवादी नेता जनमानसमें सम्प्रदायोंके बाह्याचारोंके आधारपर परस्पर वैमनस्य उत्पन्न कर देते हैं। 'सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति' वाली उक्तिके समान वैष्णव सन्त नम्मालवारने कहा, "अन्यान्य सम्प्रदायोंके माध्यमसे एक ही सनातन तत्त्वकी अभिव्यक्ति होती है और वही ब्रह्मतत्त्व है" (तिरुवाय् मौलि) इसी तथ्यकी अभिव्यक्ति सन्त दादू-दयालकी इन पंक्तियोंसे भी होती है,

सावधान !

मोकलपुरके बाबा वर्दीसाणा गाँवके तालावपर विराजमान थे। वे प्रायः दिगम्बर वेषमें ही रहते और विना आसनके भूमिपर ही बैठते। वृद्धावस्थामें भी शरीर ब्रह्म-वर्चस्से उद्दीप्त। हम लोग उनके सामने चुपचाप बैठे थे और वे भी चुप थे। हमारे एक साथीने बैठे-बैठे एक दूर्वादल नोच लिया। बाबाने उलाहनेके स्वरमें कहा—'राम-राम, यह क्या करते हो? ईश्वरके अनुग्रहसे मिट्टीका कुछ अंश हरी-हरी दूर्वाके रूपमें प्रकट हुआ है। यह गायके पेटमें जाय तो दूध बने, फिर मनुष्यके पेटमें जाकर वीर्य बने। सम्भव है वह थोड़े ही दिनोंमें मनुष्यका आकार ग्रहण कर ले। तुमने नोचकर फेंक दिया। उसका कितना अहित किया। उसके विकासकी गति अवरुद्ध हुई, जीवन व्यर्थ हो गया। तुम्हारा कर्त्तव्य है—उसके विकासमें सहायता करना। अब उसे कब बीजका संसर्ग होगा, परिस्थितिकी अनुकूलता होगी और उन्नत योनिमें प्रगति करेगी?'

उनकी इस सूक्ष्म दृष्टि और हितभावनाको देखकर हम लोग आश्चर्यचकित और श्रद्धा-गद्‌गद हो गये।

●

"अलह कहाँ चहँ राम कहाँ, डाल तजाँ सब मूल गहाँ" सन्त कबीरने भी हिन्दुओं एवं मुसलमानोंके बीच व्याप्त धार्मिक विषमताको देखकर, उनकी धार्मिक कट्टरतासे उत्पन्न मलिन वातावरणसे क्षुब्ध होकर कहा है,

"हिन्दू कहत मोहि राम पियारा,
तूरुक कहै रहिमाना।
आपस में दोऊ लरि लरि मुए,
मरम न काहू जाना।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि तमिल और हिन्दीके सन्त-कवि एक ही विचारधारासे अनुस्यूत हैं, वे साधक हैं, भक्त हैं, चिन्तक हैं और समाज-सुधारक भी। उनकी जाह्नवी वाणी यही सिद्ध करती है कि अन्यान्य भौतिक विषमताओंके बावजूद भारतीय संस्कृति अर्थात् भारतकी चेतना, विचारधारा एवं चिन्तन-प्रक्रिया समान है और वह भारतीय सांस्कृतिक एकात्मकताका पुष्ट प्रमाण है।

●

उपलोंसे भगवन्नाम

विश्व-विश्रुत महात्मा कबीर महाराष्ट्रकी भक्तिमती श्री जनाबाईकी कीर्ति सुनकर उनके दर्शनोंके लिए काशीसे पैदल पधारे। गाँवमें पूछताछ करनेपर मालूम हुआ कि वह उपले बेचनेके लिए बाजारमें गयी है। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। वे स्वयं बाजारमें पहुँच गये। वहाँ स्त्रियाँ उपलोंके लिए परस्पर वाक्-कलह कर रही थीं—'तूने मेरे चुरा लिये', तूने मेरे चुरा लिये।' लोगोंके द्वारा ज्ञात हुआ कि उन्हींमें-से एक जनाबाई है। मनमें कुछ वितृष्णा-सी हुई कि 'इन्हींके दर्शनके लिए मैंने इतनी लम्बी यात्रा की है! राम-राम !!'

जनाबाईने पुकारकर कहा—'महात्मा जी! आप हमारा न्याय कर दीजिये। इसके कितने उपले हैं?' कबीरने कहा—'भला, मैं कैसे पहचानूँगा कि किसके कितने उपले हैं, और किसके कितने?' जनाबाईने कहा—'आप एक-एक उपला कानसे लगाकर देख लीजिये। जो मेरे हैं उनमें नामकी ध्वनि है।' कबीरने कानसे लगा-लगाकर सोलह उपले अलग कर दिये और आश्चर्यचकित स्तब्ध होकर खड़े रह गये। जनाबाईने कहा—'बस, मेरे इतने ही हैं।'

बात यह थी कि जनाबाई जंगलमें कंडे बीनकर उपले पाथती थीं और उन्हींसे भगवान्को भोग लगाकर प्रसाद पाती थीं। उनका नाम-जप निरन्तर चालू रहता था। उनमें निकम्मापन, पर-परिग्रह सर्वथा नहीं था। प्रीतिसे उच्चारण किये हुए नाम उपलोंमें बस जाते। यह चमत्कार देखकर कबीरने उन्हें नमस्कार किया और काशी लौट आये।

—बाबा श्री रामदास (करहेवालेके) मुखारविन्दसे

Ward Norton
American diplomat.
Sets out for top-level talks.
Always looks his best in
Raymond's
suitings
Raymond's suitings — Terool, Tromine and Pure Wool

पू० श्री उड़ियाबाबाजी महाराज

हमारे श्रीमहाराजजी

ब्र० श्री आञ्जनेय स्वामी

अर्थात्

पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज

उपक्रमणिका

इतः पूर्णं ततः पूर्णं पूर्णात्पूर्णं परात्परम्।
पूर्णानन्दं प्रपद्येऽहं सद्गुरुं शङ्करं स्वयम्॥

भगवच्चरित्रकी अपेक्षा भी सन्त और भक्तोंके चरित्र भगवद्रसको प्रत्यक्ष प्रकट करानेवाले, शाश्वत आनन्द प्रदान करनेवाले, जीवनके वास्तविक स्वार्थका दिग्दर्शन करानेवाले तथा उसकी सहजावस्था और उनके स्वाभाविक माहात्म्यका उद्घाटन करनेवाले होते हैं। अतः अपनी कायिक, वाचिक, मानसिक, बौद्धिक और भावमयी सम्पत्तियोंका सच्चा अभ्युदय करनेवाला समझकर मैंने श्रीमहाराजजीकी गुणगरिमाका गान करनेका निश्चय किया है।

इस अनुसन्धानप्रधान युगमें वास्तविक अनुसन्धान करने योग्य क्या है? दर्शनीय क्या है? श्रवणीय क्या है और मननीय क्या है? सच पूछें तो वह वस्तु अपना आपा ही है। यही युग, कल्प और शताब्दियोंसे

गूँजता हुआ श्रुति और सन्तोंका उद्घोष है—'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।' (गीता १५।१५) सन्त ही जीवनका सर्वस्व है—ऐसा समझकर इस अजर-अमर गाथाके अनुसन्धानकी जिज्ञासा हुई। सन्त ही वास्तवमें कवि है, क्योंकि वह क्रान्तदर्शी है, वह असलियतका आशिक, आर्त्त, जिज्ञासु एवं अर्थार्थीके लिए अनन्त निधि, प्राणिमात्रकी मधुर अमृत-वर्षिणी माता तथा नित्य जीवनका दाता है और वही सम्पूर्ण रसोंमें विहार करनेवाला है। ऐसा जानकर मैं उनके जीवन-विज्ञानकी वाटिकामें विकसित पुष्पोंका चयन करनेके लिए चल पड़ा तथा उसके त्यागरसा-मृतसे भरपूर फलोंका आस्वादन करनेके लिए उद्यत हो गया। श्रीगुरु-देवके चरणोंकी उपासनासे सम्पूर्ण दोषोंकी निवृत्ति होती है और ज्ञानदाता गुरुदेवके समान इस त्रिभुवनमें कोई नहीं है—ऐसा समझकर मैं अपने अनन्त आत्माका प्रदान करनेवाले श्रीगुरुदेवकी गुणगरिमाका कुछ बखान करता हूँ। उनकी महती अनन्त कृपासे ही इस अभिलाषाकी पूर्ति होगी। अपनी ओर देखने पर तो पैर पीछे हटने लगते हैं, लेखनी रुक जाती है और हृदय काँपने लगता है। परन्तु जब उन करुणा-वरुणालयकी ओर दृष्टि जाती है तो उत्साह उमड़ने लगता है और हृदय उल्लसित हो उठता है। उनकी अहैतुकी कृपासे ही आगे बढ़ना सम्भव है। प्रभो ! शक्ति प्रदान करके इस प्रयासको सफल बनाइये।

श्रीचरणोंकी ओर

मेरी जन्मभूमि समुद्रतटपर थी। वहाँ ताड़के वृक्षोंकी बहुलता होनेके कारण मद्यनिषेध तथा समुद्र होनेके कारण नमक-सत्याग्रहमें सक्रिय भाग लेनेका अवसर मिला। जबसे श्रीराजेन्द्रबाबू कांग्रेसके अध्यक्ष हुए तबसे पत्रिका-प्रतिनिधियोंकी ओरसे संकेतलिपि (Short-hand) में नेताओंके प्रवचनोंकी प्रतिलिपि तैयार करनेका काम करने लगा। एक बार वेट-पालममें पूज्य श्रीबापूजीको सहारा देनेका अवसर भी आया। उस समय मनको इस भावतरंगने अपनेमें निमज्जित कर लिया कि जीवनमें किसीका गुलाम नहीं रहूँगा। उसी समय हृदय और जीवनमें देशप्रेम प्रवाहित होने लगा। उन्हें देखकर 'स्वदेशे स्ववेशे स्वधर्मे स्ववर्णे जनानां प्रशस्यः प्ररूढोऽनुरागः' यह जीवनका लक्ष्य बन गया।

असहयोग आन्दोलन चल रहा था उस समय अचानक मैंने सुना कि एक महात्मा पागल हो गये हैं। मैंने पूछा, "कौन ?" उत्तर मिला, "दास

शेष स्वामी।" मैंने उनके गुरुदेव श्रीवासुदेव स्वामीको देखा था। परन्तु बालक होनेके कारण उनके सत्संगका लाभ नहीं उठा सका। उन्होंने अपने परम प्रयाणसे पूर्व अपने सहस्रों शिष्योंमें सुब्बदास नामक शिष्यको अपना उत्तराधिकारी घोषित किया था। और उन्हें अपने शेष रूपसे ही ठहराया था। तबसे आपका नाम श्रीदासशेष स्वामी हुआ।

उनका नाम सुनते ही मैं तुरन्त उनके दर्शनोंकी लालसासे चल पड़ा। स्वामीजी मेरे मित्र मधुसूदनराव चार्टर्ड एकाउण्टैण्टके घर पर थे। मैं उन्हें देखते ही समझ गया कि वे भगवदुन्मत्त हैं, पागल नहीं हैं। उनके समीप बैठनेपर उनके अंगसे दिव्य गंध प्रसारित होती जान पड़ी। बहुत कालके सिर दर्दसे पीडित एक व्यक्ति उनके पास आया। उन्होंने उससे कहा, "राधेश्याम कहो।" उसके कहते ही उसका दर्द बन्द हो गया। रोते-रोते आया था, हँसते-हँसते चला गया। मैं आश्चर्यचकित होकर उन कौपीनमात्रधारी संतके साथ चल पड़ा। उनके अर्चाविग्रहको देखा तो वे चैतन्य, मुसकराते हुए और श्वास-प्रश्वास लेते जान पड़े। उन्होंने भोग लगाकर प्रसाद दिया। उस समय उनके शरीरपर उज्ज्वल नीलमणि-जैसी कान्ति उद्भासित हो रही थी।

मैंने उनसे अपने घर चीराला पधारनेकी प्रार्थना की। उन्होंने स्वीकार कर लिया और अकेले ही वहाँ पहुँच गये। केवल दो ग्रास भिक्षा ली। मैं सायंकालमें उनके पास गया। मालूम हुआ कि इस समय स्वामीजी मेरे मित्र शास्त्रीकी जंघापर सिर रखकर विश्राम कर रहे हैं। उतनी देरतक शास्त्रीजीको श्रीयुगलसरकारके वृन्दावनविहारकी झाँकी होती रही। वे भावविभोर होकर कह रहे थे कि यही संतकी सहज रसरूपता है। रातको आठ बजे श्रीस्वामीजी और मैं विट्ठलनगर चीरालामें अच्युतिनि सुब्बाराव राघवरावके घर छतपर थे। उस समय मैंने श्रीस्वामीजीका प्रत्येक अंग उज्ज्वल नीलमणिके समान जगमगाता देखा। उन नील कमलरूप श्रीदासशेषजीसे दिव्य गन्ध निकल रही थी। मैं सहसा उनके श्रीचरणोंमें ढुलक गया। मुझे चेतना नहीं थी। चेत होनेपर देखा कि उज्ज्वल नील ज्योत्स्ना कुछ मन्द होकर श्यामवर्ण हो गयी है।

मैंने पूछा, "यह क्या हुआ ?" वे बोले, "तुम्हारे पाप धुल गये हैं, अब सावधान होकर भजन करो।" जैसे श्रीगौराङ्ग महाप्रभुकी अंगकान्ति जगाई-मधाईके पापोंका संकल्प लेनेपर कुछ मलिन हो गयी थी और

फिर उसे आत्मसात् कर लेनेपर पुनः पूर्ववत् उज्ज्वल हो गयी उसी प्रकार मेरे पापोंको आत्मसात् कर लेनेपर श्रीदासशेषजीकी अंगकान्ति, जो पहले मलिन हो गयी थी, पुनः नीलोज्ज्वल हो गयी।

केवल इतना ही नहीं हुआ, मुझे उनकी हृदयश्रीका भी दर्शन हुआ। मुझे स्वप्नमें रसिकेश्वर श्री श्यामसुन्दर और रासेश्वरी श्रीकिशोरीजीके दिव्य वृन्दावनविहारकी लीलाएँ दिखायी देने लगीं। उस समय महामन्त्रके संकीर्तनकी ध्वनि भी सुनायी देती थी। उस ध्वनिकी अनवरत तरंगे प्रवाहित होती थीं। मानो नामब्रह्मसागरमें निरन्तर ज्वार-भाटा आ रहा हो। ऐसा जान पड़ता था मानो उनका चित्त ही मेरा चित्त बन गया। वे तो मानो चैतन्यरसविग्रह श्रीश्यामाश्यामकी लीलारसभूमि ही रह गये—मानो नामब्रह्मके मूर्त्तिमान् नृत्यकी रंगभूमि ही बन गये। इसे उनकी अहैतुकी कृपा कहो या शक्तिपात—यह सब हुआ अवश्य।

फिर स्वामीजी श्रीरंगम् चले गये। मैं उनके लिए बेचैन हो गया। मानो मेरे हाथमें आया हुआ खजाना खो गया। उस समय जलसे निकाली हुई मछलीकी-सी मेरी अवस्था थी। भगवान्‌ने नेल्लूरमें मेरी नियुक्ति कर दी। वहाँकी यात्रा श्रीस्वामीजीकी खोजमें मेरी सहायक बनी। मेरे वहाँ पहुँचनेस पूर्व श्रीस्वामीजी मेरे मित्र वोड्डुपल्ली सीताराम आञ्जनेयके घर ठहरे हुए थे। जब मैं वहाँ पहुँचा तो उन्होंने बताया कि अब वे श्रीरंगम् चले गये हैं। मैं उनके बिखरे हुए कृपापुष्पोंको बटोर रहा था। सीताराम आञ्जनेयने कहा, "मैंने स्वामीजीसे पूछा था कि गीताका सर्वोत्तम श्लोक कौन-सा है।" श्रीस्वामीजीने गीता खोलकर मेरे आगे रख दी। भगवान्‌की उस वाङ्मयी मूर्तिने मुझे यह श्लोक दिया—

> अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
> साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ (९।२९)

स्वामीजी प्रपत्तिमार्गके सन्त थे। गीताजीने भी उनके प्रपत्तिरसकी ही पुष्टि की। मानो भगवद्वात्सल्यको खोल दिया। अब निराशाके लिए कोई स्थान नहीं था। भगवान् तो अनन्त वात्सल्यके भण्डार हैं—इस विश्वासकी पुष्टि हुई और उनका उत्साह द्विगुणित हो गया।

वहाँसे मैं श्रीस्वामीजीकी खोजमें चल पड़ा। मार्गमें परम प्रशान्त स्वात्मनिष्ठ श्रीरमण महर्षिजीके दर्शन हुए। उनसे पूछा कि वैवाहिक

जीवन आध्यात्मिक खोजमें साधक है या बाधक ? वे बोले, "इस मुख्य प्रश्नपर विचार करो कि मैं कौन हूँ।' फिर सिनेमाका दृष्टान्त देकर कहा कि शुद्ध प्रकाश देनेवाले अपने आत्माकी ओर बुद्धि उलटकर खोजो। इस प्रकार उनका सत्संग कर कावेरीके किनारे-किनारे पैदल ही पक्षी-तीर्थ होकर चल पड़ा। रास्तेमें रसामृतलहरी भगवल्लीलाओंके दर्शन और चिन्तनमें डूबता-उतराता तथा रसवाहिनी सहज कवितामें झूमता श्रीरंगम् पहुँच गया।

वहाँ परम भक्त नटेश अय्यरने कहा, "श्रीस्वामीजी श्रीवृन्दावन आदि उत्तर भारतके तीर्थोंकी यात्राके लिए गये हैं। कुछ दिनोंमें ही श्रीकृष्णलीलामृतगान-उत्सवमें चीराला पधारेंगे।" मैं कावेरीका जल लेकर ठीक उत्सवके समय चीराला पहुँच गया। मैंने कावेरीके जलसे श्रीस्वामीजीके चरण धोये और सारा चरणामृत पी गया। कैसा आश्चर्य हुआ ? जिनका दिव्य विग्रह मयूरकण्ठके समान नीलवर्ण है, मुखाम्बुजश्री प्रसन्नतासे परिपूर्ण है और जिनकी मधुर मुसकान मनको हरनेवाली है उन श्रीश्यामसुन्दरकी किशोरमूर्त्ति प्रत्यक्ष मेरे साथ उस उत्सवस्थलीमें विचरने लगी। उनकी प्रेमभरी चितवनने मेरे हृदयको घायल कर दिया। "घायलकी गति घायल जाने।"

उत्सव समाप्त हुआ। पूज्य श्रीस्वामीजी व्रजयात्रामें श्रीभगवत्कृपाकी अपनी अनुभूतियाँ सुना रहे थे। कहते थे—"कुछ लोगोंने मेरे पैर छू लिये, इसलिए उनमें फफोले पड़ गये। परन्तु फिर वे स्वयं ही मिट गये। सारी यात्रा गोलोक धामके प्रत्यक्ष दर्शन करते हुए हुई।" किसीने उनके सामने बैलको चाबुक मार दिया। उसी समय उन्हीं स्थानोंमें उनके शरीरमें चाबुक लगनेके चिह्न प्रकट हो गये। इस प्रकार "मैत्रः करुण एव च" ये भक्तके लक्षण उनमें मूर्त्तरूपसे प्रकट हुए। सत्य ही है—"ज्यों-ज्यों भीजै स्याम रंग त्यों-त्यों उज्ज्वल होय।" आप कहते थे कि मन्त्र देते समय मेरे ओठ जलने लगते हैं और बड़ी दुर्गन्ध आती है। इससे स्पष्ट मालूम हुआ कि आचार्य पापोंको दहन करते हुए मन्त्र प्रदान करते हैं। मानो वे नूतन जन्मदाता ही होते हैं।

श्रीस्वामीजीके सामने मैंने यह प्रश्न रखा कि अब मुझे क्या करना चाहिए। आपने कहा, "आओ, ध्यानमें बैठो, श्रीप्रिया-प्रियतम ही निश्चय करेंगे।" मैं रात्रिके समय आँखें खोले ध्यान करने लगा। उस समय मुझे श्रीवृन्दावनके नित्यकिशोर वर-वधू श्रीधामकी ओर जाते हुए

दिखायी दिये। उस रूपमाधुरी और लीलास्थलीको देखकर मैं चकित हो गया। श्रीस्वामीजीको मैंने श्रीभगवान्‌का वह क्रियात्मक प्रत्यक्ष आदेश सुनाया। आप सुनकर बड़े प्रसन्न हुए। उसके पश्चात् मुझे स्वप्नावस्थामें भी श्रीवृन्दावनकी वनस्थली और गंगातटकी झाड़ी दिखायी दी।

उनकी उपासना थी कि श्रीलाडिलीजी मेरी पुत्री हैं, मैं उनकी माँ हूँ और श्रीकृष्ण मेरे दामाद हैं। उनके शरीरमें उनके इष्टविग्रह प्रकट होते थे। उनके शरीर और जीवन इष्टदेवकी लीलास्थली बन गये। उनमें रसप्रतिभाविता मति मूर्त्तिमती होकर प्रकट हुई थी। वे स्वयं श्रीश्याम-सिन्धुकी लहरी ही थे। इतना ही नहीं, उन्होंने अपने गुरुदेवसे प्राप्त श्रीअवधयुगलसरकारकी भी प्रत्यक्ष अनुभूति की थी। भाव ही उनका जीवन था और जीवन ही भाव था। ये दो नहीं, एक थे। वे "जित देखूँ तित स्याममई" ही थे। भक्त प्रेमरसका पान करते हैं और कराते हैं। वे कहते थे, "वृन्दावन तुम्हारे भीतर है, हृदयमें है।" वृन्दावनके सुप्रसिद्ध सन्त श्रीसंकर्षणदासजीने उनके वाल्मीकि रूपमें दर्शन किये थे। मैंने पूछा, "यह सब क्या हो रहा है।" वे बोले, "यह सब करुणावरुणालय-की लीला है।"—

न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे।
अकिञ्चनोऽनन्यगतिः शरण्यं त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये ॥[1]

उन्होंने अपने जीवनमें अपने गुरुस्थान श्रीपादुकाक्षेत्रमें तथा दासकुटीर अंगलकुदरूमें सीतापरिणय, रामराज्याभिषेक आदि अनेकों उत्सव किये थे। स्वयं माधुकरी वृत्तिसे रहकर कीर्त्तनमण्डलीके साथ गाँव-गाँव घूमकर अखण्डकीर्त्तन करते थे। उनके जीवनमें महाभावोंकी वृष्टि होती थी। उन्हें इसी वर्ष माघमासमें परमपद प्राप्त हुआ है। इसलिए यहाँ उनका कुछ विस्तृतरूपमें स्मरण करना आवश्यक हुआ।

उन परम कृपालु संतशिरोमणिने सन् १९४२ में मुझसे कहा कि चलो, प्रयाग कुम्भमें सन्तोंके दर्शन करेंगे। आज-कल उत्तर भारतमें ब्रह्मण्य-मूर्ति श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज हैं, हरिनाममूर्ति श्रीहरिबाबाजी हैं

१. मैं न धर्मनिष्ठ हूँ, न आत्मज्ञानी हूँ और न आपके चरणकमलोंमें भक्ति रखने-वाला ही हूँ। मेरे पास कुछ भी नहीं है और न मेरा कोई दूसरा आश्रय ही है। अतः मैं आपके शरणागतके एकमात्र आश्रय चरणतलकी शरण ग्रहण करता हूँ।

और भागवतमूर्ति श्रीशान्तनु विहारी हैं।[1] मैं गुण्टूरसे चलकर वर्धा पहुँच गया। श्रीस्वामीजी इस यात्रामें मेरे साथ नहीं थे। वर्धामें मुझे महात्मा गाँधीजोके दर्शन हुए। उनकी त्यागमयी सौम्य मूर्ति हृदयको प्रिय लगी। वहाँ श्रीराजेन्द्रबाबूकी अध्यक्षता और गाँधीजीके नेतृत्वमें अखिल भारतीय गोरक्षा कान्फ्रेंस हो रही थी। उसमें भारत और गौमाताको एक रूपमें चित्रित देखकर एक वास्तविकताका दर्शन हुआ। वहाँसे मैं झूसी-प्रयागराज पहुँचा और ब्रह्मचारी श्रीप्रभुदत्तजीकी सेवामें रहने लगा। उन दिनों भागवतमूर्ति पं० शान्तनु विहारीजी भी वहीं थे। बलियावाले श्रीश्यामसुन्दरजीने, जो डिस्ट्रिक्ट बोर्डके सेक्रेटरी थे, उनका परिचय दिया कि ये गीताप्रेससे प्रकाशित होनेवाले 'कल्याण' मासिक पत्रके सम्पादकीय विभाग में हैं और सर्वतोमुखी विद्वान् हैं। मैं उनके साथ सन्त, विरक्त और आचार्योंके दर्शनोंके लिए चल दिया। सभीने उनका हृदयसे स्वागत किया। उन्हींके साथ मैंने त्रिवेणीमें स्नान किया। सर्दी अधिक होनेसे ठिठुरने लगा तो उन्होंने मुझे अपनी चादर ओढ़ा दो। उनकी ऐसी उदार प्रकृति और अनवरत लहराती प्रसन्नता देखकर चित्तमें प्रसन्नता हुई। उनकी मन्द मुसकान आजतक ज्योंकी त्यों मेरे हृदयमें गड़ो हुई है। जिस प्रकार वंशी श्रीकृष्णरसकी मधुरताको वितरित करती है उसी प्रकार उनका श्रीभागवतका रस-वितरण था। श्रोतागण मन्त्रमुग्ध होकर श्रीमद्भागवतरसालयके रसपानसे विभोर हो जाते थे।

श्रोदासशेषजी तो पहुँचे नहीं, पर मेरा मन भगवत्परायण मधुमय महापुरुषके दर्शनोंके लिए व्याकुल रहने लगा। खोज आरम्भ हुई। श्रीकरपात्रीजीकी तितिक्षा, तप, लग्न और धर्मनिष्ठा तथा विद्वत्ता और शास्त्रप्रतिपादनकी शैली अच्छी लगी। श्रीब्रह्मप्रकाशजीकी सरल और सरस प्रकृति तथा गम्भीरता और गीताप्रवचनकी शैली बड़ी मधुर लगी। ब्रह्मचारी प्रभुदत्तजीके अनवरत नामस्मरण, तीर्थनिष्ठा, नियम-निष्ठा, कर्मनिष्ठा तथा भागवतपारायण, लगन एवं उत्साहने प्रभावित किया। मैंने उनसे पूछा, "आपने भागवत्के अनेकों पारायण किये हैं, उनका सार बतानेकी कृपा कीजिये।" तब आपने ये दो श्लोक लिखे—

देहेऽस्थिमांसरुधिरेऽभिमतिं त्यज त्वं
जायासुतादिषु सदा ममतां विमुञ्च।

---

१. पूज्य स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वतीका पूर्वाश्रमका नाम।

पश्यानिशं जगदिदं क्षणभङ्गनिष्ठं
वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठः ॥
धर्मं भजस्व सततं त्यज लोकधर्मान्
सेवस्व साधुपुरुषाञ्जहि कामतृष्णाम् ।
अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा
सेवाकथारसमहो नितरां पिबत्वम् ॥[१]

परन्तु रसिकस्वरूप श्रीदासशेषजीके पश्चात् फिर कोई अन्य रसमयी मूर्त्ति नहीं मिली। चित्त अकुलाता था। उसी समय मैंने प्रयागराजमें श्रीसीताराम बाबा और आनन्द ब्रह्मचारीजी आदि भक्तोंके मुखसे सन्त-सम्राट् ब्रह्मण्यमूर्त्ति श्रीउड़ियाबाबाजी और हरिनाममूर्त्ति श्रीहरिबाबाजीके शुभ नाम, लीला और महत्त्व आदिके विषयमें सुना। एक भक्तने कहा, "अरे भैया! श्रीहरिबाबाजीके पलक तो पृथ्वीकी ओर ही लटके रहते हैं, वे बड़े समयनिष्ठ और नामनिष्ठ हैं तथा दीनोंके प्रति दयालु हैं। उन्होंने गंगाजीकी बाढ़से पीडित प्रजाओंकी रक्षाके लिए बाँधकी रचना की है। वे स्वयं भगवन्नामकेशरी हैं। यदि गौरांग महाप्रभुका प्रेम और उनकी नामलीला देखनी हो तो इस नवीन नवद्वीपनागरके दर्शन करो। वे अक्लिष्टकर्मा हैं। श्रीउड़ियाबाबाजी तो साक्षात् श्रीनित्यानन्दजीके अवतार हैं। इन दोनोंका परस्पर अलौकिक प्रेम देखने ही योग्य है। "अस स्वभाव कहुँ सुनहुँ न देखहुँ।" दूसरे भक्तने कहा—"अरे भैया! ये दोनों नित्य गौर-निताई हैं। श्रीउड़िया बाबाजी तो बाँधके वाञ्छाकल्पतरु आशुतोष भगवान् शंकर ही हैं। उनकी उदारता, उनकी मस्ती और उनका ध्यान

---

१. श्रीगोकर्णजी कहते हैं—"पिताजी यह शरीर हड्डी, मांस और रुधिरका पिण्ड है। इसे आप 'मैं' मानना छोड़ दें। स्त्री-पुत्रादिको कभी अपने न मानें। इस संसारको रात-दिन क्षणभंगुर देख। इसको किसी भी वस्तुको स्थायी समझकर राग न करें। बस, एकमात्र वैराग्यरसके रसिक होकर भगवान्की भक्तिमें लगे रहें।

"भगवद्भजन ही सबसे बड़ा धर्म है। उसका आश्रय लिये रहें। अन्य सब प्रकारके लौकिक धर्मोंसे मुँह मोड़ लें। सदा साधुजनोंकी सेवा करें। भोगोंकी लालसाको पास न फटकने दें तथा शीघ्रसे शीघ्र दूसरोंके गुण-दोषोंका विचार छोड़कर एकमात्र भगवत्सेवा और भगवत्कथाके रसका ही निरन्तर पान करें।"

देखते ही बनता है। वे केवल आत्मज्ञानी नहीं हैं, अपितु आत्मप्रेमी हैं। वे ऐसे सर्वसमर्थ हैं कि प्राण दे सकते हैं और ले सकते हैं तथा राज्य दे सकते हैं और ले सकते हैं। उन्हें अन्नपूर्णा सिद्ध हैं। वे अद्भुतकर्मा हैं। उनकी उदारताकी सीमा नहीं है। देखो, रामघाटमें कुत्ता, बन्दर और कौआ आदि जीव-जन्तुओंका भोज किया। ये सब निमन्त्रित ब्राह्मणोंकी तरह समयपर आये और पशुत्व भूलकर अपने लिए नियुक्त बाँसोंके बाड़ेमें बैठकर भोजन करके चले गये। प्राणिमात्रके प्रति समान उदारता तो यहीं मिलेगी। जिस प्रकार बोधिवृक्षकी डालियाँ बुद्धभगवान्‌के चरण-स्पर्शके लिए झुक आयी थीं उसी प्रकार जिस आम्रवृक्षके नीचे बाबा बैठते थे उसकी डालियाँ बाबाके चरणस्पर्शके लिए झुक आयी थीं। उन्होंने मुर्दोंको जीवित किया। वे कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थ हैं।' एक भक्त बोले, "यह तो दक्षिणी है, हिन्दी कम जानता है। देखो, उनकी दृष्टि और व्यवहार तो यह हैं—

"हरिरेव जगज्जगदेव हरिः हरितो जगतो न हि भिन्नतनुः।
इति यस्य मतिः परमार्थगतिः स नरो भवसागरमुत्तरति॥"[1]

उन्होंने क्रोधरूप शैतानको भस्म कर दिया है। तुम जाओ और देखो। उनमें यह श्लोक मूर्त्तिमान् है—

"अक्रोधवैराग्यजितेन्द्रियत्वं क्षमादयासर्वजनप्रियत्वम्।
निर्लोभदानं भयशोकहानं ज्ञानस्य चिह्नं दशलक्षणं च॥"[2]

उन महापुरुषोंकी गुणगरिमा और प्रभाव सुनकर चित्त लालयित हुआ कि शीघ्र ही दर्शन करूँ। अतः कुम्भ समाप्त होते ही वृन्दावन पहुँच गया। यह विश्वास हृदयमें अवश्य था कि मैं उन अदृश्य भगवान्‌के हाथमें हूँ, जिनका कुछ भाग्यशाली ही दर्शन करते हैं और जिनसे विरले प्रेमी ही प्रेम कर पाते हैं। मैं और ब्रह्मचारी पद्मनाभ, जो आगे चलकर दण्डिस्वामी सच्चिदानन्देन्द्र सरस्वती हुए, वृन्दावन पहुँचे, जिसके

---

१. श्रीहरि ही संसार हैं और संसार ही हरि हैं। श्रीहरि और संसारमें थोड़ा-सा भी भेद नहीं है। जिसकी ऐसी बुद्धि है वह पुरुष परमार्थ-परायण है और संसार-सागरको पार कर जाता है।

२. अक्रोध, वैराग्य, जितेन्द्रियता, क्षमा, दया, सर्वप्रियता, लोभहीनता, दान, निर्भयता और शोकहीनता—ये ज्ञानके दश लक्षण हैं।

विषयमें कहा है—'यत्र भक्तिर्नृत्यति यत्र सन्निहितो हरिः[1] ।' वहाँ श्रीकृष्णाश्रममें पहुँचनेपर मालूम हुआ कि दोनों बाबा श्रीबाँधपर हैं। तुरन्त हम दोनों बाँधके लिए चल दिये। अनूपशहरमें पतितपावनो कलिमलहारिणी श्रीगंगाजीको प्रणामकर उनमें स्नान किया। फिर कुछ देर विश्राम करनेपर मालूम हुआ कि यह अनूपशहर हरिधाम बाँधके लिए साक्षात् हरिद्वार है। तथा बाँधरूप कैलासका मानो हरद्वार है। यहाँसे प्रस्थान करके हरिधाम बाँधको प्रणाम किया और सिरपर वहाँका रज धारण किया। मनमें तरह-तरहकी भाव-तरंगें उठने लगीं। यह सन्तचरणाङ्कित भूमि है। यह बाँध नहीं, पूज्य श्रीहरिबाबाजीकी कृपा-रसमयी मूर्त्ति है। हरिबोलकी देन है, नामप्रभावको प्रत्यक्ष मूर्त्ति है, नाम-गंगाको प्रवाहिणी है और साक्षात् हरिको कृपाकटाक्षमहिमाको प्रदर्शिनी है। इसने श्रीहरिके वाञ्छाकल्पतरु नामको सार्थक कर दिया है तथा श्रद्धा-विश्वासको जाग्रत् किया है। इससे यह पाठ मिलता है कि इस प्रकारका श्रम श्रम नहीं, दीनदयालको दृष्टिपातके लिए सच्ची प्रार्थना ही है। इसने श्रमदान, सम्पत्तिदान और जीवनदानके सहित नाम-नरेशके साथ आश्रित-आश्रय-रसानुभूतिकी शृङ्खला प्रदर्शित की है। यहाँ सन्तशिरोमणि श्रीहरिबाबाजीके माध्यमसे सच्चा स्वल्पदान भी भगवदीय नाम-रूप-लीला-धामके रसप्राकट्यका हेतु बन गया है।

उस हरिधाम बाँधको मन ही मन कोटि-कोटि प्रणामकर श्रीहरि-बाबाजीको स्मृतिमें झूमते और पद-पदपर सन्तकरुणारसका आस्वादन करते हम आगे बढ़े। पतितपावनी श्रीगंगाजी मानो अपने पापप्रक्षालन-जनित मालिन्यको प्रक्षालित करनेवाले सन्तोंके दर्शन और स्पर्शसे आह्लादित हो उस प्रसन्नताकी धाराको प्रवाहित करती मन्द गतिसे अपने प्रियतमके साथ मधुर मिलनके लिए चल रही थीं। ऋतुराज वसन्त मानो सन्तसमाजका स्वागत कर रहे थे। हरिधाम बाँधके चारों ओर हरियाली छायी हुई थी। मानो बाँधधामके प्राकृत भण्डारमें धन-धान्यकी समृद्धि सुशोभित हो। जैसे-जैसे आगे बढ़े नामोद्घोष सुननेको मिला। नगाड़ा, खाल, मृदंग और झाँझके साथ नामकेशरीकी गर्जना कर्णकुहरोंमें प्रविष्ट हुई। धीरे-धीरे सत्संगभवनके समीप पहुँचा। बाँधके प्रमुख अंग स्वामि-बाँधको तथा वहाँकी स्वच्छता और रमणीयताको देखकर चित्त आह्ला-

---

१. जहाँ भक्ति नृत्य करती है, जहाँ श्रीहरि सर्वदा विराजमान रहते हैं।

दित हुआ। मानो 'सफाई ही खुदाई है' यह वाक्य चरितार्थ हो रहा था। वहाँके वातावरणमें 'हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्। कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा' यह वाक्य मानो गूँज रहा था।

वहाँ महापुरुषोंकी चरणरजमें अभिषिक्त होनेका सुअवसर मिला, जो एकमात्र भक्ति प्रदान करनेवाला है। बस, हर्षोल्लाससे नृत्य करने लगा। सत्संग हो रहा था। सब मन्त्रमुग्ध होकर श्रवण कर रहे थे। नित्योत्सव-स्वरूप, नयनानन्ददाता दोनों महापुरुषोंका दर्शन किया। उनमें एक अत्यन्त शान्त और गम्भीर मुद्रामें कथावाचकके सिंहासनके समीप सिर नीचा किये नववधूके समान बैठे थे। उनके सलज्ज भावमें गौरांगसुन्दरता छिप नहीं पाती थी। उनके स्वच्छ वस्त्रोंकी कान्ति सुन्दरताको सुन्दर कर रही थी। तथा दूसरे अवधूतशिरोमणि स्थिर सुख सिद्धासनसे ध्यानमग्न हुए विराजमान थे। उनके रोम-रोमसे प्रसन्नता और आनन्दका झरना झर रहा था। मुखकमलपर आनन्द उल्लसित हो रहा था। यही उनकी शाश्वती सहजा स्थिति थी।

कथा समाप्त होनेपर श्रीहरिबाबाजी दृष्टि नीची किये दायें-बायें न देखते हुए जल्दी-जल्दी अपनी कुटियाकी ओर चल दिये। सुरक्षा-परिकर मार्गमें किसीको मिलने नहीं देता था। तथा सदाशिवरूप श्रीउड़ियाबाबाजी अपनी सहज समाधिसे उतरकर धीरे-धीरे चलने लगे। स्पष्ट दीखता था कि वे आनन्दमें छके हुए हैं। जैसे पूर्णचन्द्रको देखकर समुद्र आह्लादसे उछल-उछलकर उसे चूमनेके लिए उमड़ता है वैसे ही जनसमूह उनके चरणस्पर्शके लिए दौड़ रहा था। आनन्दमूर्तिकी आकर्षणशक्ति उसे बलात्कारसे खींच रही थी। उनके मुखचन्द्रपर सभीके नेत्र चकोरकी भाँति लगे हुए थे। आप समुद्रकी भाँति सभीके साथ घुल-मिल रहे थे, तथापि मक्खनकी तरह असंग थे। अपने भवभय-हारी प्रेमप्रदायी अमृत-हस्त सबके सिरपर रखते थे और सभीको कृपा-कटाक्षसे निहारकर निहाल कर देते थे। चलते-चलते सबसे आवश्यक बातचीत होती जाती थी। मैंने आरम्भसे ही देखा कि वे अपने समीप आनेवाले भक्तोंकी लौकिक, पारलौकिक एवं पारमार्थिक सभी प्रकारकी समस्याओं और उलझनोंको बड़ी आत्मीयता और सहानुभूतिसे सुलझाते हैं। उन्होंने मानो सम्पूर्ण प्राणियोंके हितके लिए अपनेको उत्सर्ग किया हुआ था। ऐसा जान पड़ता था कि जब वे सिद्धासनसे ध्यानस्थ होते थे

तब उनकी स्थिति 'नेह नानास्ति किञ्चन'में होती थी और जब बाहर आते थे तब 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' रूपसे रहते थे। वे वास्तवमें 'आकाशकोशतनवोऽतनवो महान्तः'[1] थे। मैंने स्पष्ट देखा कि वे स्वभावसे ही महान् शान्त, परम मधुर, प्राणिमात्रके लिए अत्यन्त उदार, दीन-दुखियोंके लिए परम सुहृद् और राग-द्वेषशून्य हैं। वे आत्मस्वरूपसे परम स्वतन्त्र और प्रेममूर्ति सन्तशिरोमणि हैं। भगवान् सदाशिवके पास जैसे ऋषिमण्डली रहती है वैसे ही उनके समीप सर्वदा जिज्ञासु साधक बने रहते थे। तथा उनके परिकरमें जैसे भूत, प्रेत, पिशाच, डाकिनी, शाकिनी आदि रहते हैं वैसे ही आपके परिकरमें भी सभी प्रकृतिके नर-नारी रहते थे। यह आपकी विरुद्धधर्माश्रयताका निदर्शक था।

उनकी कथनी और रहनीमें एकत्व देखकर, उनकी समरसताकी सरस माधुरीका आस्वादनकर तथा उन्हें आनन्दमयी दृष्टिसे सबको आनन्दित करते देखकर चित्त उनके चरणोंकी शरणके लिए लालायित हो उठा। पता नहीं कब उन्होंने खींचकर अपना लिया।

श्रीचरणोंकी छत्रच्छायामें

एक बार किसीने प्रश्न किया—श्रीमहाराजजी! जिन-जिनने आपका दर्शन किया है क्या उन सभीका कल्याण हो जायगा?

श्रीमहाराजजी—अवश्य, परन्तु मेरा दर्शन तो कोई नहीं करता।

तुरन्त यह जिज्ञासा हुई कि इनका वास्तविक दर्शन क्या है? एक बार स्वामी श्रीअखण्डानन्दजीने भरी सभा में कहा था कि जिस प्रकार गीताजीके तत्त्वको देखनेवाला, प्रतिपादन करनेवाला और श्रवण करनेवाला आश्चर्यमय है वैसे ही हमारे श्रीमहाराजजीके नाम, रूप और लीला आदि हैं—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥
(२।२९)

'उसको कोई आश्चर्यचकित होकर देखते हैं, क्योंकि आप सर्वविलक्षण-स्वरूप हैं। कोई आश्चर्यचकित होकर उसका बखान करते हैं तथा भावोंमें उन्मज्जित-निमज्जित होते हुए उसके स्वरूप और रूपसे चमत्कृत

---

१. आकाशकोश ही जिनका शरीर है ऐसे वे अशरीरी महापुरुष।

होते उसका श्रवण करते हैं। यह सब होते हुए भी उसे वास्तवमें कोई नहीं जानता।'

अब यह उत्कट अनुसन्धानका विषय रहा कि श्रीमहाराजजीका वह सुदुर्लभ आश्चर्यमय दर्शन क्या है। आपके दर्शनसे यह स्पष्ट दिखायी देता था—

> आश्रित्य पूर्णपदवीमास्ते निष्कम्पदीपवद्योगी।
> आशावसनो मौनी नैराश्यालङ्कृतस्वान्तः॥[1]

बिन्दु आनन्दसिन्धुमें लीन हो गया है; इसलिए अब किसी प्रकारकी पिपासाका प्रश्न नहीं रहा है। वे निरन्तर आवृत्तचक्षु हैं—उनके नेत्र उलट गये हैं—उदासीन हैं। 'गुरुने दिया पूरा ज्ञान, नयना रूँठ गये, नहीं कछुक ध्यान।' आओ, देखो, अनुसन्धान करो। उनको दृष्टि इधर नहीं उधर लगी हुई है। लगी ही नहीं, आनन्दमदिरामें मदान्ध हो रही है। नशेमें चूर-चूर है, नेत्र चकाचक छके हुए हैं। उनके रोम-रोमसे आनन्द छलक रहा है। उनका स्वरूप और रूप मानो इस श्लोककी प्रत्यक्ष व्याख्या ही है—

> देहं च तं न चरम स्थितमुत्थितं वा
> सिद्धो विपश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम्।
> दैवादुपेतमथ दैववशादपेतं
> वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः॥ (भाग० ३।२८।३७)

अर्थात् जिस प्रकार मदिराके मदसे मतवाले पुरुषको अपनी कमरमें लपेटे हुए वस्त्रके रहने या गिरनेकी कोई सुधि नहीं रहती उसी प्रकार चरमावस्थाको प्राप्त हुए सिद्ध पुरुषको भी दैववश अपने देहके उठने-बैठने अथवा कहीं आने-जाने या लौटनेके विषयमें कुछ भी ज्ञान नहीं रहता, क्योंकि वह अपने परमानन्दमय स्वरूपमें स्थित है।

आपको देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो पूर्णानन्दसिन्धु उमड़ रहा है। यह स्पष्ट ध्वनि होती थी कि—'पूर्णात्पूर्णमुदच्यते' तथा 'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।' आप तो साक्षात् अनुष्ठानको मूर्त्ति हैं। आप स्पष्ट दिखला रहे हैं कि 'देवो भूत्वा देवान् यजेत्।' आप

---

१. योगी पूर्ण पदवीमें स्थित होकर निष्कम्प दीपकके समान स्थिर होता है। दिशाएँ ही उसके वस्त्र होते हैं, वह मननशील होता है तथा उसका अन्तःकरण नैराश्यसे अलंकृत होता है।

एक होकर मानो एकके साथ एकमेव हो गये हैं। अगतिशील होकर अगतिशीलके साथ, शान्त होकर शान्तके साथ, अजायमान होकर अजायमानके साथ और अमनस्क होकर अमनस्कके साथ एक हो गये हैं। तत्त्वतः **'अजमपि जनियोगं प्रापदैश्वर्ययोगादगति च गतिमत्तां प्रापदेकमनेकम्'** अर्थात् जो मायाके योगसे अजन्मा होनेपर भी जायमान-सा, अगति होनेपर भी गतिमान्-सा और एक होकर भी अनेक-सा दीखता है। परन्तु यहाँ आश्चर्यकी वात तो यह है कि ये मूर्त्त होनेपर भी अमूर्त्तस्थ हैं, गतिवान् होनेपर भी अगतिस्थ हैं और ब्रह्मसमुद्रकी अशान्त ज्वार-भाटामें भी अशान्त हैं। पाणिपादयुक्त दीखनेपर भी वास्तवमें अपाणिपाद हैं। वह निःस्पन्द ब्रह्म सभी कुछ अव्यवहितरूपसे देखता है और वह पूर्णानन्दब्रह्म भीतर-बाहर दोनोंकी सन्धिमें भी **'सर्वमिदमहं च ब्रह्मैव'** इस दृष्टिसे रूपको नेत्रोंके समान साक्षात् देखते हैं।

एक बार आपसे किसीने प्रश्न किया कि 'महाराजजी! यह दृष्टि कैसे प्राप्त हो? आप बोले, "वेटा! यहाँ देखते हुए न देखना है और सुनते हुए न सुनना है।"

प्रश्न—तो यह सब क्या है?

श्रीमहाराजजी—यह सब मेरी चकचक (चमक) है। ये सब जीवाभास हैं।

आप स्पष्ट कहते थे कि **'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूत आकाशाद्वायुः'** (उस इस आत्मासे आकाश हुआ और आकाशसे वायु) ऐसा क्रम है। बस, इससे आगे पढ़नेको आवश्यकता नहीं है। 'आकाश' का अर्थ है 'कुछ नहीं' अर्थात् आत्मासे 'कुछ नहीं' उत्पन्न हुआ अतः आत्मा ही आत्मा है।

वह आनन्दात्मा ही इस पूर्णानन्द (श्रीमहाराजजी) रूपमें विराजमान है। यहाँ ज्ञानामृतसे तृप्ति स्पष्ट दीखती है। 'सबमें एक और एकमें सब' इस ज्ञान-विज्ञानका खेल ही आपका जीवन था। वह **'यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः'**की मूर्त्तिमती व्याख्या थी। यहाँ जीवनदर्शन और सद्दर्शन अभिन्न होकर जिज्ञासुओंका पथप्रदर्शन कर रहे थे। उनका हस्तकमल सिरपर आनेपर उसकी कोमलता और मृदुलतासे चकित होकर ऐसा जान पड़ता था मानो आनन्दधातुसे ही यह मूर्त्ति गठित हुई है। ईश्वर गुरु और फड़कते हुए ब्रह्मरूपसे स्वयं आत्मकाम और निःस्पृह होनेपर

भी हम लोगोंके लिए धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और प्रेमकी वर्षा करते हुए कृपाकटाक्षके द्वारा मानो आपकी साक्षात् दीनदयालुता ही दोनोंपर द्रवित होकर मूर्त्तरूपसे प्रकट हुई है। यह पूर्णानन्दमूर्त्ति मानो 'बिनु पग चलहि सुनहि बिनु काना' और 'आननरहित सकल रस भोगी' की साक्षात् प्रतीक है। यह अपनी सृष्टिमें भक्तोंके स्वप्न, जाग्रत्, और समाधि आदि स्तरोंमें प्रवेशकर स्वयं चले बिना ही अनेक रूपोंमें प्रकट हो जाती है, उनके दुःख निवृत्त करती है, उन्हें उपदेश देती है, औषध बताती है, 'मैं अमुक स्थानमें हूँ, आ जाओ' ऐसा कहकर पुकारती है और भटकने-वालोंको सावधान करती है। सब लोग इससे संक्रान्त और सम्भ्रान्त हो रहे हैं। वे क्या-क्या कृपाका खेल करते थे—वे ही जानें। उनमें सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता और अन्तर्यामिता आदि ईश्वरीय गुण स्पष्ट देखे गये थे। ये उनकी अनन्तगुणगणनिलयताके द्योतक थे। जैसे ब्रह्म सर्वदा समरूपसे सर्वत्र हजिरा-हुजूर है वैसे ही आप उससे भी स्पष्ट सर्वत्र हाजिरा-हुजूर करुणावरुणालय सरकार थे और अपने सगुण निर्गुणरूपसे अनन्त कृपाका खेल करते थे।

मैं आपके श्रीचरणोंमें पहुँचा। जैसे खोया हुआ बालक बहुत दिनों बाद घर पहुँचे तो माता-पिता उसे प्रेमसे छातीसे लगा लेते हैं वैसे ही आपने अपना वरद हस्त मेरे सिरपर फेरते हुए पूछा, "बेटा! कहाँसे आये हो?" मैंने टूटी-फूटी हिन्दीमें अपनी सब कहानी कह सुनायी। प्रथम दिन ही मुझे आपका चरणामृत और महाप्रसाद मिला। आपकी अमृतवर्षिणी दृष्टि मुझपर पड़ी। उनका अमृतप्रदायी भवभयहारी सुकोमल हस्त सिरपर अंकित हुआ। मुझे आपने वात्सल्यरससे सरा-बोर कर दिया और 'बेटा' कहकर सुदृढ सम्बन्धकी स्वीकृति दी।

आप बोले—"बेटा! मुझे सच्चे हृदयसे जो एक गिलास जल पिलाता है उसका मैं ऋणी हो जाता हूँ।" सच है—'ऐसो को उदार जग माहीं।' फिर मुझे आज्ञा दी, 'यदि तुमसे कोई उत्तेजित होकर बोले तो तुम क्रोध मत करना।' मैंने स्पष्ट देखा कि वे कभी किसीसे भला-बुरा नहीं कहते। कोई भला या बुरा करनेपर, भला या बुरा बोलनेपर वे न स्तुति करते हैं न निन्दा। न रोकते-टोकते हैं और न चित्त ही बिगाड़ते हैं। अनेकों धाराओंका प्रतिघात होनेपर भी जैसे चट्टान स्थिर रहती है वैसे ही वे अचल रहते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि वे उपेक्षा करते हैं। उनका बोलना, रहना, चलना 'सबके प्रिय सबके हितकारी। सुख-दुख सरिस

शैतानको

प्रशंसा-गारी'का प्रतीक है। इतना ही नहीं, उन्होंने क्रोधरूप शैतानको सदाके लिए नष्ट कर दिया है। कहते थे—'तुम सबके हितके लिए कुछ संकेत करता हूँ—मुझे कहीं ले जाओ, किसी भी परिस्थितिमें क्रोधका नाम-निशान नहीं भासेगा।' उद्विग्नताने उन्हें छुआतक नहीं था। उदासीनता-की छायातक नहीं दीखती थी। उनकी मुखाम्बुजश्री समरस माधुरीसे निरन्तर आह्लादित रहती थी। उनका जीवनरस—

> क्रुद्ध्यन्तं प्रति न क्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्।
> अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चनः॥[1]

इस श्लोकका प्रतीक था। उन्हें बड़ी-से-बड़ी विपत्ति भी चलायमान नहीं कर सकती थी। सामने कोई संघर्ष होने लगता तो आप अपनेमें सिमिट जाते थे। बाह्य घटनाओंका तथा अपने पास रहनेवाले विरुद्ध स्वभावोंका अपने स्वभावसे स्पर्श नहीं होने देते थे। एक बार पं० सुन्दर लालजीने विलविलाते हुए कहा, "बाबा! ये सब बिगड़ रहे हैं, कुछ ख्याल करो—" तो आप बोले, "पण्डितजी! क्या मैं अपना स्वभाव बिगाड़ूँ। इन मूर्खोंको डण्डा लेकर मारूँ। मैं एम्० ए० क्लासका मास्टर हूँ। इशारेसे बताता हूँ। करो तो करो, नहीं तो मरो। थाल परोसकर रखा है। उसे खाना और पचाना इनका काम है।" पण्डितजी कहते थे, "यह बाबा नहीं माँ हैं—कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।"

इन्हीं दिनों पण्डित शान्तनुविहारीजी प्रयागकुम्भमें ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीब्रह्मानन्दजी सरस्वतीसे संन्यास लेकर बाँधपर आये। उनका नाम हुआ स्वामी श्रीअखण्डानन्द सरस्वती। उनकी वालसूर्यप्रभा-जैसी संन्यासमूर्त्तिको देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। मैंने प्रणाम किया। श्रीमहाराजजीसे पहले हीसे आपका सम्बन्ध था। केवल सम्बन्ध ही नहीं उन्हें आपका हृदय समर्पित था। 'श्रीमहाराजजी' शब्द उन्होंने उन्हींके लिए रख छोड़ा है। एक भक्तने एकबार उनसे कुछ प्रतिष्ठित सन्तोंके विषयमें पूछा तो आपने स्पष्ट कहा, 'भैया! मेरी श्रद्धा-भक्ति तो श्रीमहाराजजीमें है। 'महाराजजी' शब्दका प्रयोग उन्हींके लिए होता है। औरोंसे इतनी घनिष्ठता नहीं है। तुम जाओ, दर्शन करो, ये सब भी अच्छे सन्त हैं।'

---

१. जो क्रोध करे उसके प्रति क्रोध न करे, कोई बुरा-भला कहे तो मीठा बोले, निन्दा आदि भी सहन करे और किसीका अपमान न करे।

अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु भगवान् श्री निम्बार्काचार्यका

स्वाभाविक-द्वैताद्वैत

श्रीव्रजवल्लभशरण, वेदान्ताचार्य, पञ्चतीर्थ

भगवान् श्री निम्बार्काचार्यने अपना दार्शनिक सिद्धान्त स्वाभाविक द्वैताद्वैत निर्धारित किया है। भेदाभेद एवं भिन्नाभिन्न भी इसीके पर्य्याय हैं। कुछ दार्शनिकोंने आगे चलकर स्वाभाविक द्वैताद्वैतपर आपत्तियाँ उठायीं और उसे न अपनाकर स्वाभाविकके स्थानपर औपाधिक विशेषण जोड़ दिया जिससे उनका वह औपाधिक भेदाभेदवाद लोकमें ख्यात हो गया। उससे भी कुछ आलोचकोंको संतोष नहीं हुआ तो उन्होंने औपाधिक विशेषणमें अनुपपत्ति दिखलाकर अचिन्त्य पदका विशेषण जोड़ दिया। उनका वह मत अचिन्त्य भेदाभेद कहलाता है। इस प्रकार द्वैताद्वैतके ये तीन प्रभेद इस समय प्रचलित हो रहे हैं, वास्तवमें सबका मूल 'स्वाभाविक भेदाभेद' ही है।

यह एक सम्बन्ध है! जब ब्रह्म (कारण) और चराचरात्मक जगत् (कार्य) इन दोनोंके सम्बन्धका प्रश्न उपस्थित होता है कि ब्रह्म और जीव तथा प्रकृति यह सब भिन्न-भिन्न हैं अथवा अभिन्न या भिन्नाभिन्न ? इन तीन प्रश्नोंका प्रत्युत्तर जब वेद, उपनिषद्, पुराण आदि शास्त्रोंमें खोजते हैं तो वहाँ कहीं तो उपर्युक्त तीनों तत्त्वोंको विभिन्न-विभिन्न बतलानेवाले वाक्य मिलते हैं और कहीं-कहीं अभिन्नता दिखानेवाले वाक्य भी मिलते हैं। वेदोंके समस्त वाक्योंको प्रामाणिक माना है। कोई भी वाक्य बाधित नहीं कहा जाता। यद्यपि कभी-कभी वाक्योंकी संगति लगानेके लिए कुछ आलोचक उनमें निर्बलता और प्रबलताकी कल्पना कर लेते हैं तथापि वे सब वाक्य अपने-अपने प्रतिपाद्य विषयोंमें कभी भी निर्बल नहीं हो सकते, ऐसा वैदिकोंका निश्चित सिद्धान्त है।

भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्यने इसी सिद्धान्तके अनुसार ब्रह्म (कारण) और चराचरात्मक जगत् (कार्य) में भेदाभेद (द्वैताद्वैत) सम्बन्ध मानकरके उन समस्त वेद-वाक्योंका

समन्वय किया है; जिनमें कि परस्पर विरोधकी प्रतीति होती है। यह भेदाभेद (द्वैताद्वैत) प्रायः सभी लौकिक-अलौकिक पदार्थोंमें देखा जाता है। उदाहरणार्थ कुछ पदार्थोंका यहाँ दिग्दर्शन कराया जाता है—जल और उसकी तरंगोंके सम्बन्धमें यदि यही प्रश्न किया जाय कि ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं या अभिन्न? विचार करनेपर क्या उत्तर मिलेगा? जल और उसकी तरंगोंको भिन्न-भिन्न तो कह ही नहीं सकते क्योंकि तरंगें जलसे भिन्न हों तो जलके अतिरिक्त किसी पृथ्वी आदि पदार्थमें भी उनकी उपलब्धि होनी चाहिए, किन्तु जलकी तरंगें जलके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं हो सकतीं। कदाचित् कहीं मरुमरीचिकादिमें प्रतीति भी होती है तो उसे सभी भ्रम ही कहते हैं। अतएव जल और उसकी तरंगोंको भिन्न तो किसी भी स्थितिमें नहीं कह सकते। यदि अभिन्न कहें तो फिर 'जल और उसकी तरंगें' ऐसा भेदबोधक व्यवहार नहीं होना चाहिए। ऐसा भेदाभेद गुणी और गुण, धर्मी और धर्म, जाति, व्यक्ति, अवयवी, अवयव, शक्ति और शक्तिमान्में भी देखा जाता है। प्रत्येक गुणकी स्थिति, प्रवृत्ति गुणीके अधीन देखी जाती है; जिससे वह गुणीसे भिन्न नहीं हो सकता, अतः वह गुण गुणीसे अभिन्न कहा जा सकता है, फिर भी उसे गुणी न कहकर गुण ही कहा जाता है। अतः वह गुणीसे भिन्न भी है। इसी प्रकार शक्ति-शक्तिमान् अंशी-अंश, अवयवी-अवयव आदि सभीमें भेदाभेद निहित है।

परमात्मामें ज्ञान, बल, क्रिया आदि अनेक शक्तियाँ हैं और वे सब स्वाभाविक हैं—

पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते०

—श्वेताश्वर उपनिषत् ६

प्रकृति और जीवसमूह ये दोनों भी उसी परब्रह्मकी शक्ति माने जाते हैं। प्रकृतिको अपरा शक्ति कहा है और जीवसमूहको पराशक्ति—गीता ७।५

इन सब शक्तियोंको अग्नि और उसकी उष्णतारूप शक्तिके समान समझना चाहिए। यह श्रीपराशरजीने विष्णुपुराणमें स्पष्ट किया है :—

शक्तयः सर्वभावाना-
मचिन्त्या ज्ञानगोचराः।
यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु
सर्गाद्या भावशक्तयः।
भवन्ति तपतां श्रेष्ठ
पावकस्य यथोष्णता॥

वि० पु० अं० तृ० अ० २-३

अग्नि और उसकी दाहकता (शक्ति) इन दोनोंको सर्वथा भिन्न भी नहीं कह सकते और सर्वथा अभिन्न भी नहीं कह सकते। दाहकत्व शक्ति, शक्तित्वेन अग्निसे भिन्न है, किन्तु इसकी स्थिति प्रवृत्त्यादि अग्निके अधीन होनेके कारण उससे वह अभिन्न भी है।

द्वैताद्वैत एवं भेदाभेद परस्पर विरुद्ध हैं, उन दोनोंकी एकत्र स्थिति कैसे हो सकती है ? कुछ सज्जन ऐसा प्रश्न उठाते हैं। द्वैताद्वैत सिद्धान्त-प्रतिपादक आचार्योंने उसका समाधान इस प्रकारसे किया है।

द्वाभ्यां चैव प्रकाराभ्या-
मितं तद्द्वीतमुच्यते ।
द्वीतं तदेव द्वैतं स्याद-
द्वैतं तु ततोऽन्यथा ॥

इसका तात्पर्य यह है कि जो द्वाभ्यां = परस्परविलक्षणाभ्यां, प्रकाराभ्यां = स्वतन्त्रसत्त्वपरतन्त्रसत्त्वाभ्यां, चेतनाचेतनत्वादिभ्याञ्च, इतं = ज्ञातं, (वस्तु) द्वित कहलाती है, उसीको द्वैत भी कहते हैं। यहाँ द्वाभ्यां शब्दका तात्पर्य अनेकसे है। तदनुसार भाव निकलता है :—द्वाभ्यां अर्थात् अनेकैः प्रकारैः—चिदचिदीश्वर-भेदैः तदवान्तरभेदैः = जीवप्राकृताप्राकृतकालेश्वररूपैः, तदवान्तरभेदैश्च ज्ञातं वस्तु द्वीतं तदेव द्वैतं, अद्वैतं तु तद्विलक्षणम्।

सारांश यह है कि जीव प्रकृति एवं प्रकृतिका कार्य, काल, तथा भगवद्धामादि—अप्राकृत, ये सब पदार्थ ब्रह्माश्रित हैं। ब्रह्मके कार्य हैं। वह परात्पर परब्रह्म इन सबके बाहर-भीतर ओत-प्रोत है अतएव व्यापक है। जब विभिन्न-विभिन्न रूपसे समस्त पदार्थ ज्ञात हो रहे हों तब वह द्वैत (ज्ञान) कहलाता है और जब सर्वाधार ब्रह्ममें सबका अन्तर्भाव मानकर एकत्व रूपसे ज्ञात होता है तब वह अद्वैत ज्ञान कहलाता है। जैसे दूरसे समुद्रको देखनेवाले कहते हैं—वह समुद्र है, वहाँसे उन द्रष्टाओंको उस समुद्रकी तरंगें एवं मछली आदि जल-जन्तु दिखलायी नहीं देते अतः उन्हें समुद्रका एकत्वेन ही भान होता है। किन्तु जब सन्निकट पहुँच जाते हैं तब उन्हें समुद्रकी उत्ताल तरंगें भी दीखने लगती हैं। मत्स्य, कच्छप, मगर आदि जल-जन्तु भी दीखने लगते हैं अतः उन सबका पृथक्-पृथक् रूपसे भान होने लगता है। इस प्रकार समुद्रका एकत्वेन (अद्वैत रूपसे) भी भान होता है और पृथक्त्वेन (द्वैत रूपसे) भी भान होता है। इन्हीं दोनों प्रकारोंका भगवान्ने समर्थन किया है—'एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतो मुखम्'—गीता ९।१५। इसी भावनाका नाम ज्ञानयज्ञ है, इसे उपासना भी कहते हैं। कोई अभेद भावसे उपासना करता है कोई भेद-भावसे किन्तु वह एकांगी (अपूर्ण) ही कहलाती है। जिस प्रकार केवल कर्म या केवल ज्ञानकी अवज्ञा करके कर्म ज्ञान समुच्चयात्मक उपासनाका विधान मिलता है (ईशावास्योपनिषद्)। उसी प्रकार केवल भेद और केवल अभेदको ग्राह्य न बतलाकर भेदाभेद भाव (सिद्धान्त) को अपनानेके लिए ही वेदव्यासजीने अपने ब्रह्मसूत्रोंमें

"उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्" (ब्र० सू० ३।२।२७)। "अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापिदाश कितवादित्वमधीयत एके"—(ब्र० सू० २।३।४२)।

इन दोनों सूत्रोंका श्रीनिवासाचार्यने श्रीनिम्बार्काचार्यके सिद्धान्तानुसार इस प्रकार निष्कर्ष दिखाया है :—नायं जीवः श्रीपुरुषोत्तमादत्यन्ताभिन्नः, नाप्यत्यन्तभिन्नः, किन्तु परमात्मनोंऽशः, "अंशो ह्येष परस्य" इति श्रुतेः। अंशो हि शक्तिरूपो ग्राह्यः "एष परस्य शक्तिः, जीवोऽल्पशक्तिरस्वतन्त्रः" इति श्रुतेः। खण्डरूपो धनादिवदंशो नेह गृह्यते, जीवस्य ब्रह्मखण्डत्वे निष्कलमित्यादिवाक्य - विरोधाद्धनवदंशत्वे केवलभेदापत्तेः तत्त्वमसीत्यादिवाक्यव्याकोपप्रसंगाच्च। अंशित्वावच्छिन्नात्परमपुरुषस्वरूपात् सार्वज्ञादिगुणनिधेरंशत्वावच्छिन्नेन बन्धमोक्षार्हणस्वरूपेण भिन्नोऽप्यंश्यधीनस्थितिप्रवृत्त्यादिमत्त्वात्तदभिन्नः। कुतो नानाव्यपदेशात्। अन्यथा च = अभेदव्यपदेशाच्च। उभयविधवाक्यानां तुल्यबलत्वात् जीवपरमात्मनोः स्वाभाविकौ भेदाभेदौ भवत इत्यर्थः।

इस सूत्रमें चेतनस्वरूप जीव और ब्रह्मका भेदाभेद सिद्ध किया गया है। इसी प्रकार ब्रह्म और जड़ जगत्का भी भेदाभेद सम्बन्ध ही है यह उभय० ३।२।२७ इस सूत्रमें व्यक्त किया गया है। भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्य अपनी संक्षिप्त पारिजात-सौरभ वृत्तिमें कहते हैं :—"मूर्तामूर्तादिकं विश्वं ब्रह्मणि स्वकारणे भिन्नाभिन्नसम्बन्धेनस्थातुमर्हति, भेदाभेदव्यपदेशात् अहिकुण्डलवत्।" श्रीनिवासाचार्यने इस सूत्रका भाष्य विस्तारपूर्वक किया है, उन्होंने बतलाया है कि रज्वाकार सर्प कुण्डलका कारण अतएव व्यापक और स्वतन्त्र है। कुण्डल उसका कार्य अतएव व्याप्य और परतन्त्र है, इसलिए उनमें भेद स्वाभाविक ही है। किन्तु सर्पके बिना कुण्डलकी न प्रवृत्ति हो सकती है न स्थिति ही अतः वह प्रकार कुण्डल सर्पसे अभिन्न भी है। इसी प्रकार ब्रह्म और जड़ जगत्के सम्बन्धमें समझना चाहिए—"एवं प्रपञ्चस्याऽपि चिदचिच्छक्तिमद् ब्रह्मकार्यस्य कारणेन ब्रह्मणा सह स्वाभाविकौ भेदाभेदौ भवतः।" वेदान्तकौस्तुभ—ब्र० सू० ३।२।२७।

यद्यपि श्रीरामानुजाचार्य और वल्लभाचार्य ने अपने अभिमत सिद्धान्त का नाम क्रमशः विशिष्टाद्वैत और शुद्धाद्वैत रक्खा है, तथापि वह नाममात्रका ही विभेद है। वास्तवमें दोनों महानुभावोंने श्रीनिम्बार्काचार्यके स्वाभाविक भेदाभेदका ही समर्थन किया है—ब्रह्मसूत्रके ३।२।२८ सूत्रका श्रीरामानुज कृत श्रीभाष्य द्रष्टव्य है।

श्रीवल्लभाचार्य जीने भी इस सूत्रके अणुभाष्यमें लिखा है—'आत-

अपना भाग्य अपने हाथमें

एक था राजा। राजाओंके शौक भी अलग-अलग होते हैं। वह उदार तो था परन्तु उसका शौक यह था कि किसी याचकके आनेपर अपनी मूँछपर उँगलियाँ घुमाता और जितने बाल हाथमें आ जाते उतनी गिन्नियाँ दे देता। एक कवि आये। रसिक, निपुण और स्पष्टवादी। उनकी कविता सुनकर राजा साहब प्रसन्न हुए। मूँछपर हाथ फेर कर बोले—'कवि! तुम अभागे हो, बदकिस्मत हो। तुम्हारे नामपर मूँछका केवल एक बाल आया; तुम्हें केवल एक गिन्नी मिलेगी।'

कविने छूटते ही कहा—'राजन्! मूँछ भी तुम्हारी, हाथ भी तुम्हारा। इसमें मेरे भाग्यका सम्बन्ध कहाँ? यदि मूँछ तुम्हारी और हाथ मेरा होता तो मैं दिखा देता कि मेरा भाग्य कैसा है?'

अपना भाग्य अपने हाथमें रहता है, दूसरे के नहीं।

●

पादेर्धर्मत्वेन धर्मित्वेन च प्रतीते'। इसीको भावप्रकाशकारने इस प्रकार स्पष्ट किया है :—एवं च ब्रह्मणः सच्चिदानन्दरूपेण सर्वेषां ब्रह्माभेदः, ब्रह्मणस्तु कार्यलक्षणेन सर्वस्माद्भेदः जगतः कार्यत्वात्। चिदानन्दतिरोभावात्। तयोः स्वल्पत्वाच्च भेदः। जीवे आनन्दांशतिरोभावात् अल्पत्वादंशत्वादिभ्यश्च भेदः। अक्षरे गणितानन्दत्वादिभ्यो भेदः।

इसी प्रकार अन्यत्र भी कई स्थलोंपर ब्रह्मका जीव एवं प्रकृति आदिके साथ भेदाभेद-सम्बन्ध बतलाया गया है। यह भेदाभेद ब्रह्म और मुक्त जीवोंमें भी रहता है :—यह आशय ब्रह्मसूत्र अध्याय ४ पाद ४ सूत्र २० और २१ में स्पष्ट किया गया है।

इस भेदाभेदवादमें भेद अभेदका और अभेद भेदका विरोधी नहीं है। क्योंकि भेद केवल वैलक्षण्य स्वरूप है। अतः भगवान् और उनके धाम, विग्रह, गुण, धर्म, शक्ति एवं उनकी आत्मस्वरूपा श्रीराधिकाजी आदिमें अभिन्नता होते हुए भी वैलक्षण्यरूप भेद होना स्वाभाविक है। इस प्रकारसे यह स्वाभाविक भेदाभेद सर्वत्र विद्यमान है।

●

आत्मचिन्तनकी रीति

१. एक ब्रह्मविद् महापुरुषका कथन है कि 'मैं देह नहीं हूँ' इस विवेककी परिपुष्टि ही आत्मचिन्तन है; क्योंकि मनुष्य, हिन्दू, ब्राह्मण, संन्यासी, स्त्री, पुरुष आदिके भेद-भावका मूल यह देह ही है। उनका कहना था कि यदि विवेक न हो तो भी ऐसा भाव करना चाहिए कि यह देहाभिमानी धरतीपर बैठा हुआ है और मैं छतपर। आत्मा चेतन है, देह जड़। इनका तादात्म्य भी भ्रम है और संसर्ग भी; अर्थात् यह न 'मैं' है, न मेरा। फिर इसमें आरोपित गुण-दोषसे तो अपना सम्बन्ध ही क्या है?

२. जैसा कि प्रक्रिया-ग्रन्थोंमें निरूपण है—'पृथिवी जलमें लीन हो जाती है'—यह चिन्तन किया जाय कि इस विश्वमें पृथिवी नामकी कोई वस्तु नहीं है। फिर तो देह, प्राणी, वन, पर्वत, गाँव और मिट्टी कुछ नहीं होंगे। केवल जल ही होगा। आकाशके अवकाशमें वायु-वेगसे लहराता हुआ, तेजस्से प्रदीप्त केवल अपार, अगाध, अनन्त जलराशि, एक अखण्ड महार्णव। मैं और तुमके भेदके लिए कोई पार्थिव निमित्त नहीं रहेगा। यह भाव भेदभ्रान्तिको शिथिल कर देगा। आत्मा एकरस असंग साक्षी है।

३. न पृथिवी है, न जल, केवल प्रकाश है। जितनी आकृति, प्रकृति-विकृति, और संस्कृतियाँ भास रही हैं—सब प्रकाशके विलास हैं। रूपरंग, अंग-अनंग, सब उल्लसित प्रकाशकी दीप्तियाँ हैं। केवल हीरेकी दमक है। सोनेकी चमक है। 'मैं वही प्रकाश हूँ, असंग साक्षी-चेतन हूँ।'

४. यह जो शरीरमें श्वासोच्छ्वासका गमनागमन हो रहा है, यह देहकी उपाधिसे समष्टि-वायुका ही रास-विलास है। वही मन्द, मध्य, मन्द्र गतिसे तालपर और कभी बेताल भी पाद-विन्यास कर रहा है। क्या समष्टि वायुसे पृथक् प्राणवायुका कोई अस्तित्व है? उसीके संघर्षसे ऊष्मा, द्रवतासे जल, गाढ़तासे पृथिवी बनती है। वस्तुतः हमारा श्वास-प्रश्वास व्यष्टिप्राण नहीं, समष्टि प्राण है। इसीकी लास्यमयी यह लीला है—सृष्टि। न मिट्टी है न पानी, जो कुछ है हमारे प्राणोंकी परिणाम-प्रक्रिया है। न प्रकाश है, न ऊष्मा।

सब प्राणकी गुदगुदी है। प्राणकी अशेषतामें भौतिक विशेषताका निषेध है। प्राण कभी शान्त है, कभी विक्षिप्त। आत्मा है उसका असंग आधार—एकरस चेतन।

५. श्री उड़ियाबाबाजी महाराजने उपदेश किया कि ऐसा चिन्तन करो-मैं देह नहीं, आकाश हूँ। इसका अर्थ यह हुआ कि मैं परिच्छिन्न व्यष्टि नहीं, चिदाकाश हूँ।

अब इस पर थोड़ा चिन्तन किया जाय। आकाश, वायु आदिका क्रम परिणामी उपादान है। क्रम कालका बोधक है और परिणाम नियन्त्रणका। वही वायु आदिका दिक्‌तादात्म्यापन्न आधार भी है।

(*महाराजश्री*)

इसका अभिप्राय यह है कि देश, काल और कारण द्रव्य एकाकार होकर आकाशके रूपमें भास रहे हैं। वे अपने समग्र कार्यमें अनुगत भी हैं और विविक्तरूपसे उनसे व्यावृत्त भी। इस आकाशको यदि परिपूर्ण चेतनसे एक रूपमें देखा जाय तो इसीका नाम महेश्वर है। पूर्ण अहंतावादी शैव आदि इसीको अपने अहंके रूपमें अनुभव करते हैं और अपने अनुभवका अनुवाद करते हैं कि 'मैं ही सर्वकारण, सर्वोपादान, सर्वनियन्ता, सर्वाधार एवं सर्वस्वरूप परमेश्वर हूँ' निश्चय ही इस भावनासे देहका तादात्म्य भंग हो जाता है। कई लोग इसको पूर्णताप्रत्यभिज्ञा कहते हैं; अर्थात् अपनी भूली-बिसरी पूर्णता पुनः ज्ञानगोचर हो गयी। अपने पारमैश्वर्यका यह स्फुरण विशेषकर अनुवृत्ति भावना-पर अवलम्बित है। वस्तुतः मैं चेतन आत्मा ही कारण शरीर होकर ईश्वर, समष्टि सूक्ष्म शरीर होकर हिरण्यगर्भ, और स्थूल विश्व शरीर होकर विराट् नामधारी हो रहा हूँ। सर्वनाम-रूप विभाग, विमर्श, इच्छा, शक्ति, क्रिया और द्रव्य मेरे ही स्फुरण हैं। साधनाकी दृष्टिसे यह चिन्तन बहुत उत्तम अवस्था है।

परमार्थकी दृष्टिसे चिन्तन किया जाय तो परिच्छिन्नताके निवारणके लिए यह आकाशका चिन्तन साधन होनेपर भी सिद्ध वस्तुका सम्पूर्ण बोध नहीं है; क्योंकि स्वयंप्रकाश आत्म-वस्तु किसी भी दृश्यवस्तुसे विलक्षण है। जो वस्तु चेतनसे चेतनमें प्रकाशित हो रही है, उसके अत्यन्ताभावका अधिष्ठान भी चेतन ही है। इसलिए वह वस्तु अपने अत्यन्ताभावके अधि-करणमें प्रकाशित होनेके कारण मिथ्या तो है ही, अत्यन्ताभाव स्वरूप भी है। वेदान्त-मतमें अत्यन्ताभाव अधिष्ठानसे भिन्न स्वीकृत नहीं है; अतएव आत्मस्वरूपसे अतिरिक्त न अत्यन्ताभाव है और न तो उसका प्रतियोगी। इसका अभिप्राय यह है

कि अखण्ड चेतन आत्मा ही ब्रह्म है और उसके अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु नहीं है।

ऐसी स्थितिमें 'मैं अखण्ड चिदाकाश हूँ' इस चिन्तनका अभिप्राय केवल इतना ही रहता है कि परिच्छिन्न दृश्यादृश्यके अज्ञाननिमित्तक तादात्म्य-भ्रमकी निवृत्ति हो जाय। आत्मा स्वयंप्रकाश, द्वितीय ब्रह्म ही है—इस अनुभवमें ही सब चिन्तनोंका पर्यवसान है।

एक निराकार सत्ता ही सम्पूर्ण नामरूपात्मक प्रपञ्चका उपादान है। वह जबतक कार्य-दृष्टिसे कल्पित है, तबतक उसमें परिणामकी कल्पना करनेमें आपत्ति नहीं है; परन्तु जब निर्विशेष सत् और निर्विशेष चेतनकी एकता एवं अद्वयताका बोध हो जाता है तब कार्य-कारणभाव बाधित हो जाता है और सत्में कल्पित उपादानता भी निवृत्त हो जाती है। यही दशा क्रम, विस्तार और आधारताकी भी है। ये तभीतक हैं जबतक कार्य-कारण भाव है। उसके बाधित होनेपर कालगत नित्यता और देशगत पूर्णताका कोई प्रश्न ही नहीं रहता। श्रुतिने स्वयं ही व्याप्य-व्यापक भावको मिथ्या बताया है। ऐसी स्थितिमें 'मैं व्यापक हूँ, आधार हूँ, कारण हूँ, अविनाशी हूँ, सत्य हूँ, चेतन हूँ, प्रकाशक हूँ, प्रिय हूँ, अद्वय हूँ इत्यादि चिन्तनकी धारा भी अनपेक्षित हो जाती है। सार-सार यह कि नाम-रूप क्रियात्मक प्रपञ्च भी भासमान है। पहला बाधित है और दूसरा अबाधित। यह अबाधित आत्मसत्ता ही परमार्थ है।

आत्माको चिदाकाशके रूपमें चिन्तन करनेका यह सुनिश्चित ज्ञान अवश्यम्भावी फल है।

६. जैसे कोई जादूगर स्वयं अदृश्य रहकर ऐसा खेल दिखाये कि एक प्राणिशरीर एक पतले-से धागेके सहारे निराधार आकाशमें लटक रहा है। वह शरीर चाहे व्यष्टि हो, चाहे समष्टि, पिण्ड हो या ब्रह्माण्ड, अनन्तकी दृष्टिसे उसकी अल्पता-अनल्पता, लघुता-विशालता, एकता-अनेकता अथवा नित्यता-अनित्यताका कोई मूल्य नहीं है। अपने-अपने विशेष धागेमें अटके और लटके हुए विशेष-सामान्य, स्वभाव, गुण-दोष, आकृति, विकृति, एवं संस्कृति प्रकट कर रहे हैं। यह कठपुतलीके खेलके समान एक खेल प्रकट हो रहा है। सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी, ब्रह्माण्ड लट्टूके समान लटक रहे हैं। यह धागा क्या है? यह सूत्र एक-एक इकाईका अलग-अलग भी प्रतीत होता है और कभी-कभी समवाय-सा भी प्रतीत होता है। यह विद्युत्-वाही सूत्र प्रत्येक यन्त्रमें निहित विशेषताके अनुसार उसका संचालन करता है। परन्तु इन पृथक्-पृथक् सूत्रोंमें—सूक्ष्म

शरीरोंमें जो विद्युत्-धारा प्रवाहित है, वह क्या है ? सूत्र सूक्ष्म शरीर है तो तदवस्थ चिदाभास अहं ही विद्युत्-धारा है। जब इस पृथक्-पृथक् विद्युत्-धाराके सामान्य अनुस्यूत चिदाभासका चिन्तन करते हैं तो जो व्यष्टिदृष्टिसे तैजस अथवा सूत्रात्मा हैं वही समष्टि दृष्टिसे हिरण्यगर्भ हैं। वासनाके रंगमें रँगी हुई वासनोपरक्त यह समष्टि ही हिरण्यगर्भका रक्त-शरीर है। इस रक्ततामें सारे विभाजन, वे चाहे दैशिक, कालिक अथवा जड़ीय क्यों न हों, डूबते-उतराते रहते हैं। वस्तुतः उसमें स्थूल-सूक्ष्मका विभाग नहीं हैं; सब केवल मनोमय-भावमात्र हैं और एक विशाल निरवकाश रक्तिमाके समुद्रमें अन्तस्तरंगोंका उन्मेष-निमेष अथवा उन्मज्जन-निमज्जन है। इस विशेष संविद् रूप अगाध विद्युत्-राशिमें निहित एवं शान्त जो कारण-वारि है वही समग्र उन्मेष-निमेषोंका केन्द्र है। वह एक प्रकारकी अगाध, अपार निरवकाश श्वेतिमाका निस्तरङ्ग समुद्र है और वहाँ संविद्रूप विद्युत् भी निश्चल ही है। वह सम्पूर्ण शक्तियोंका केन्द्र होनेपर भी शान्तिका केन्द्र है। उसमें न किसी प्रकारका संकोच है, न विस्तार, न विकार है, न विकास। उसमें न प्रवृत्ति है, न निवृत्ति, न स्थूल है, न सूक्ष्म; परन्तु वही सबका मूल है। वह चिदाभास तो है परन्तु आभास्य नहीं है। वहाँ आभास और आभास्य एक हैं। यही कारण है कि सगुण एकत्ववादी जब उसका निरूपण करने लगते हैं तो अनेक विचारशील जिज्ञासुओंको भ्रम हो जाता है कि वही ब्रह्म है। यह श्वेत चिदाभास-प्रकाश भी एक बृहत् नीलिमामें निःसम्बन्ध ही सूर्यपिण्डवत् भासमान है। यह नीलिमा कोई वस्तु नहीं है; न लम्बाई, न चौड़ाई, न जायमान, न म्रियमान, न नाप, न तौल। यह नीलिमा एक माया है—छाया है। यह अपने साक्षी-स्वरूपमें बिना अर्थ हुए और बिना संसर्गके ही भास रही है। जब अन्यरूप अर्थ ही नहीं है तो संसर्गका प्रश्न कहाँ है ? फिर यह माया-छाया क्या है ? यह नीलिमा क्या है ? चिन्मात्र आत्मवस्तुमें जो कि स्वयंप्रकाश है और प्रकाश्य-प्रकाशक भावसे विनिर्मुक्त है, उसमें यह माया-छाया एक असम्भव कल्पना है। अनन्त ज्ञान आत्मा है और उसका ग्राह्य-ग्रहण भावसे रहित होना नीलिमा है। यह रक्तिमा, श्वेतिमा अथवा नीलिमा उस व्यावहारिक बुद्धि-वृत्तिकी उड़ान है जो मूल तत्त्वको ढूँढ़ना चाहती है। परमार्थतः जो इनका साक्षी है अर्थात् 'मैं' अथवा 'आत्मा' शब्दका वास्तविक अर्थ है, उसमें यह माया-छाया रूप नीलिमाका कोई अस्तित्व नहीं है। देश-काल-वस्तुके सारे विभाग किसी

भी रूपमें इस अनन्त-संवित्का स्पर्श नहीं कर सकते। यही संविद् अद्वय है, अनन्त है, अखण्ड है, ब्रह्म है। इसीमें सम्पूर्ण वेदान्तों और अनुभवों-का पर्यवसान है। उस नीलिमासे लेकर स्थूल सृष्टिपर्यन्त सब अपनी चमक है, दमक है। न है, न नहीं है। बस, अपना-आपा ही है।

७. औपनिषद तत्त्वके जिज्ञासुके लिए योग-सांख्योक्त त्रिगुणमयी प्रकृतिको स्वीकृति देनेकी कोई आवश्यकता नहीं। सांख्ययोगके मतमें ही गुणोंका परम-रूप दृश्य नहीं है। वे गुणोंको कार्यानुमेय मानते हैं और तदनुकूल श्रुतिकी व्याख्या कर लेते हैं। वस्तुतः नित्य परोक्ष होनेके कारण व्याप्ति-ग्रह न होनेसे गुण अनुमान-सिद्ध नहीं हैं, केवल वाक्यगम्य ही हैं। ऐसी स्थितिमें 'प्रकृति' शब्दका अर्थ ईश्वर-की उपाधि माया अथवा जीवकी उपाधि अविद्या ही हो सकता है। नाम-रूप-विनिर्मुक्त तत्त्वमें माया-अविद्या पर्यायवाची शब्द हैं। अपने अनवच्छिन्न रूप अधिकरणमें दोनोंका अत्यन्ताभाव है। इसलिए दोनों ही मिथ्या अथवा अनिर्वचनीय हैं। अत-एव अधिष्ठान ज्ञानसे उनकी बाधरूप निवृत्ति हो जाती है।

यही कारण है कि वेदान्तकी चिन्तन धारामें माया, अव्याकृत, अव्यक्त, प्रकृति, प्रधान, अविद्या, अज्ञान, मोह और कारण शरीर आदि शब्द पर्यायवाची ही हैं। इसलिए सत्त्व, रज, तमके चिन्तनकी कोई आवश्यकता नहीं है। केवल सच्चि-दानन्दके चिन्तनसे ही आत्मज्ञानके मार्गमें आगे बढ़ सकते हैं। अपने देहकी ओर देखिये। नाभिसे नीचे स्थूल प्रणवका विभाग है। जननेन्द्रिय-सहित दोनों चरण अकाररूप हैं। उनको नाभिके साथ जोड़नेवाली शिरा उकाररूप है और स्वयं नाभि विन्दुरूप है। यह स्थूल ओंकार है। यह चैत्य अर्थात् जड़ प्रधान है। क्रियाका आश्रय सत् है। वृत्तिका आश्रय चित् है और सुखभोगका आश्रय आनन्द—तीनोंमें अनुस्यूत आत्मा एक है। वही ओंकारका लक्ष्यार्थ है। वह चेतन है। अब थोड़ा ऊपर दृष्टि उठाइये। दोनों बाहु और उनका मध्यभाग अकार है। कण्ठपर्यन्त उकार है और विशुद्ध चक्र विन्दु है। तीनोंमें अनुस्यूत ओंकारार्थ चेतन आत्मा है। यह भावप्रधान सूक्ष्म ओंकार है। स्थूल ओंकारमें जो चेतन आत्मा है, वही सूक्ष्म ओंकारमें भी है। चेतन-चेतन एक है। थोड़ा और ऊपर उठिये। दोनों भौंहें और उनके मध्य भागसे सम्बद्ध नासिकाग्र अकार है। दोनों नेत्रोंके रश्मिमूलपर्यन्त उकार है। ब्रह्मरन्ध्र विन्दु है। यह कारण-प्रणव है। यह ज्ञानप्रधान है। इसमें अनुस्यूत चेतन आत्मा है। वही

कुञ्जी तो दी ही नहीं

एक भक्त महात्मा शरीर छूटनेके अनन्तर वैकुण्ठ गये। भगवान्ने उसका बहुत आदर-सत्कार किया। बराबर सिंहासनपर बैठाया। उनसे कहा—'मैं-तुम समान, हमारा ऐश्वर्य समान।'

महात्माने पूछा कि 'प्रभु! कोठारकी चाबी कहाँ है? वह अबतक मुझे नहीं मिली।' भगवान्ने उत्तर दिया—'वह तो मैं अपने पास ही रखता हूँ।' महात्मा कुछ असन्तुष्ट हुए—'फिर कैसा साम्य, फिर कैसा साधर्म्य।' भगवान्ने हँसकर कुठारकी कुञ्जी उनके हाथमें दे दी।

भक्त महात्माने वैकुण्ठके कर्मचारियोंको आज्ञा कर दी—'संसारमें जो भगवान्के भक्त हों, उनका भरण-पोषण किया जाय। उन्हें हलवा, पूरी, माल-मलीदा खूब खिलाया जाय और जो भक्त न हों, उनका पालन-पोषण बन्द कर दिया जाय। उस दिन सृष्टिके अधिकांश लोग भूखे रह गये। सेवकोंने भगवान्के चरणोंमें यह समाचार निवेदन किया। भगवान् महात्मासे बोले—'भाई! मेरे प्यारे सखा! तुम यहाँ मेरे समान ऐश्वर्यका उपभोग करो, परन्तु यह देने-दिलानेकी चिन्ता अपने सिर मत लो। सारी सृष्टि हमारी है। सबके हम पिता और स्वामी हैं। हम किसीके साथ अन्याय कैसे कर सकते हैं। साम्यमें भी एकत्व नहीं रहता, कुछ भेद तो रहता ही है। भेद यही है कि ऐश्वर्यका समान उपभोग होनेपर भी जगद्-व्यापार मेरे ही हाथमें रहता है। क्या तुमने किसीसे यह ब्रह्मसूत्र नहीं सुना था कि 'जगद्व्यापारवर्जम्'।' ऐसा कहकर कुञ्जी वापस ले ली।

—श्रीसीतारामशरणजी महाराजके मुखारविन्दसे

ओंकारका लक्ष्यार्थ है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण प्रणवाकृतिका भेद होनेपर भी प्रणव लक्ष्यार्थ आत्मा एक ही है। देश-काल-वस्तु आदि समग्र भेद इन त्रिविध शरीरोंमें ही, शरीरोंसे ही, शरीरमूलक ही भासते हैं। शुद्ध चेतनमें देश-काल-द्रव्यका अत्यन्ताभाव है। अतः अपने अत्यन्ताभावके अधिष्ठानमें भासमान होनेके कारण ये मिथ्या एवं बाधित हैं। आत्म-चैतन्य अबाधित भासमान है और तदतिरिक्त बाधित भासमान। इस बाधित भासमानकी उपेक्षा ही आत्म-दृष्टि है। इसे ही आत्मचिन्तन कहते हैं।

●

महाकवि कालिदासका ज्ञान ऋषिज्ञान-तुल्य

पण्डितप्रवर पी० एन० पट्टाभिराम शास्त्री
साहित्यविभागाध्यक्ष, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय

* • *

जैसे मनुष्य अपने-अपने शरीरकी सम्पुष्टिके लिए विविध प्रकारके भोजन-द्रव्यकी अपेक्षा रखते हैं वैसे ही इन्द्रिय, मन और बुद्धिके संवर्द्धनके लिए भी साधनोंकी आकांक्षा करते हैं। जगन्नियन्ता परमेश्वरने भी जब प्राणियोंकी सृष्टिकी इच्छा की, तब पहले भिन्न-भिन्न प्रकारके जीवनधारणोपयोगी दुग्धादि पदार्थोंकी सृष्टि की। प्राणियोंमें कुछ ऐसे होते हैं जो केवल भोजनके लिए ही जीवन व्यतीत करते हैं। साथ ही कुछ ऐसे भी होते हैं जो जीवनके लिए उपयोगी आहार करते हैं। इन दोनोंके परिणाममें बहुत बड़ा अन्तर है। पहली कक्षाके लोग अपने शरीर और इन्द्रियोंकी वृद्धि-समृद्धि चाहते हैं और केवल भौतिक फलके लाभके लिए प्रयत्न करते हैं। दूसरी कक्षाके लोग प्रधानतासे मन और बुद्धिकी पुष्टि-तुष्टि चाहते हैं और आध्यात्मिक फलकी प्राप्तिके लिए प्रयास करते हैं। पहली प्रवृत्तिका फल है जड़-विज्ञानका आविष्कार और द्वितीयका है चेतन-विज्ञान आविष्कार। पहले पक्षका अन्त भी है और आगे-आगे वह न्यून पड़ता जाता है। दूसरे पक्षमें अन्त नहीं है और उससे बढ़कर दूसरा कोई फल भी नहीं है। जहाँ पहली कक्षामें जन्म और मरणकी परम्परा अनिवार्य है, वहाँ दूसरीमें न जन्म है न मृत्यु। पहली कक्षामें निःक्षिप्त पुरुष प्रगतिशील और अग्रगामी होता है, परन्तु उसे पीछे लौटना पड़ता है। दूसरे पक्षमें अन्तर्दर्शी होता है, तथा उन्नतिशील होता है, और उसे कभी पीछे नहीं लौटना पड़ता है। पहला मृत्यु-भयसे ग्रस्त है और दूसरा निर्भय है। एक प्रतिबिम्बका प्रेमी है और दूसरा बिम्बका। पहला रागद्वेषके सहारे आगे बढ़ता है और दूसरा शम-

दमादिके। पहला क्रूर और हिंसक होता है दूसरा अक्रूर और साधु। पहला प्रवृत्तिके प्रवाहमें बहकर फिसलता है और दूसरा निवृत्तिके प्रति उन्मुख होकर स्थिर रहता है। पहलेका चित्त अशान्त है दूसरेका परम शान्त। जो व्यक्ति अपने बुद्धि-कौशलसे छोटे-बड़े बढ़ने-घटनेवाले जन्यपदार्थोंको प्राप्त करनेमें संलग्न है उसे भला शान्तिके दर्शन कैसे हो सकते हैं! उसके हृदयमें राग-द्वेषकी उत्पत्ति एवं प्रतिपत्ति स्वाभाविक ही है। जो पुरुष नित्य निरतिशय पदार्थके आविष्कारमें तत्पर है उसके जीवनमें शम-दमादि सद्गुणोंकी वृद्धि-समृद्धि नैसर्गिक ही है।

हमारे भारतीय पूर्वज महामना थे। और वे निरन्तर अपनी बुद्धिको राष्ट्र तथा समाजकी हितचिन्तामें संलग्न रखते थे। वे अपने जीवन-धारणके लिए कन्दमूल फल आदि साधारण पदार्थोंका ही उपयोग करते थे परन्तु विश्वके लिए जीवनमूल वेदोंका गम्भीर मन्थन करके अपनी शुद्ध बुद्धिके द्वारा अनेक दर्शन एवं शास्त्रोंका प्रकाशन-प्रवर्तन करते थे। वस्तुतः वे ऋषि थे। उन्हींके द्वारा प्रवर्तित शास्त्र-दर्शन आदि बुद्धिके पोषक तत्त्व हैं। यह प्राचीन वृद्ध पुरुषोंका अनुभव है कि इन्हीं शास्त्रोंका सेवन करनेसे परम शान्तिका अनुभव होता है। प्रत्येक शरीरधारी मनुष्यको मानसिक शान्ति आवश्यक है इसमें किसीका मतभेद नहीं होगा—ऐसा मैं समझता हूँ। प्रकृतिने भी शान्तिकी प्राप्तिके लिए रात्रिकी कल्पना की है। यदि दिन और रात्रिका विभाग न होता तो जगत्‌का व्यवहार कैसे चलता? लगातार भिन्न-भिन्न प्रकारके सांसारिक कर्मोंमें विक्षिप्त शरीर एवं इन्द्रियोंके लिए कहीं-न-कहीं विश्राम आवश्यक है। इसीसे रात्रि और उसमें निद्रा यह विभाग है। यह ठीक है कि निद्रावस्थामें इन्द्रियाँ अपना व्यापार बन्द कर देती हैं किन्तु उस समय भी मन शान्त नहीं रहता। उसके भी विश्रामके लिए सुषुप्ति है। इस प्रकृतिसिद्ध रचनाको देखकर लक्ष्यैकचक्षु महर्षियोंने जाग्रद-वस्थामें भी परम सुखकी प्राप्तिके लिए प्रभुवाणीमें दर्शन, मित्रवाणीमें पुराण, कान्तावाणीमें असंख्य काव्य-नाटक आदिको प्रवृत्त किया है। ऋषि और कवि एक ही तुलापर अधिरोहण करने योग्य हैं। दर्शनसे ही ऋषि होते हैं। यह दर्शन क्या है? चित्र-विचित्र भाव, संस्कृति तथा परमार्थ तत्त्वका प्रकाश। इसीकी प्रवृत्तिके लिए श्रवण, मनन और निदिध्यासन साधन हैं। इन तीनों साधनोंका आश्रयण ऋषियोंने जैसा किया है वैसा ही कवियोंने भी— यह सिद्ध करना कुछ कठिन नहीं है।

लोकस्रष्टा ब्रह्माकी प्रथम सृष्टिसे इस क्षणतक प्रभुताके समान नितान्त

गम्भीर कवियोंकी काव्य रचना अमृत-धारावत् समय-समयपर हमारे कर्ण-विचारमें प्रवेश करके हृदयको शीतल करती रही है और सज्जनोंके सन्तप्त हृदयमें पूर्वजोंके गौरवको उल्लसित करती रही है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हम सब भगवती कविके उत्संगमें शयन करके अपने प्राचीन गौरवका अनुभव करते हैं। हम सुषुप्त मानवोंको जगानेवाली कौन है? जब हम नितान्त श्रान्त एवं क्लान्त होते हैं तब हमारे हृदयमें राशि-राशि आनन्दकी धारा प्रवाहित करनेवाली कौन है? हमें वैभवके शिखरपर पहुँचानेवाली कौन है? हमारी शिष्ट संस्कृतिका बोध करानेवाली कौन है? इस प्रकारके सहस्र-सहस्र प्रश्नका एक ही उत्तर है कि वह है श्रेष्ठ-कवियोंकी कविता। जब एक चित्रकार चित्रपटपर हावभावका विन्यास करके चित्रोंका निर्माण करता है, तब उन हृदयाकर्षक चित्रोंको देखकर दर्शक मुग्ध हो जाता है और उनकी वर्ण-रंजनासे सामयिक प्रेरणा प्राप्त करके प्रसन्न होता है और चित्र-कारकी प्रशंसा करता है। ठीक इसी प्रकार कवि भी सुवर्णघटित कविताकी रचना करता है जिसके अध्ययनसे रसिकजन कविकी सराहना करते हैं। यही कारण है कि योग्य वर्ण-विन्याससे अर्थात् उचित रंगों एवं शब्दोंकी योजनासे साधित चित्र-कला और कविता-कला एक ही तुला-पर तौलने योग्य है—ऐसा जनसाधा-रण मानते हैं। तथापि जिन्होंने कला-तत्त्वके परिशीलनसे अपने बुद्धि वैभवको परिपक्व कर लिया है, उन विलक्षण लक्षणज्ञ विचक्षण पुरुषोंको सम्मतिमें कविता-कला, चित्र-कलाकी आधारशिला है। अवश्य ही चित्र-कला और काव्य-कला—दोनों ही सन्तप्त मानवका हृदय आकर्षित करके एक नूतन रसका सञ्चार करती हैं, असाधारण योग्यता प्रकट करती हैं, श्रोता और द्रष्टाके हृदयमें अपूर्व रस-भावका सञ्चार करती हैं, पुरातन शैलीको जाग्रत् करती हैं तथापि उनमें एक विशेष अन्तर है, यह रहस्य-विवेकियोंसे गुप्त नहीं है। महान् कवि रामकृष्ण आदि अवतार पुरुषोंके चरित्र चिरकालसे अपनो स्वतन्त्र एवं स्थिर कविताके द्वारा चित्रित करते रहे हैं।

यद्यपि इस प्रकारके काव्य-शिल्पी, कलाकुशल, संख्यातीत कवि हो चुके हैं तथापि उनमें दो-तीन ही ऐसे हुए हैं जिन्होंने महाकवि पदको अलंकृत किया है। उनमें भी कवि शिरोमणि कालिदास ही सबसे अग्र-गण्य एवं कवि-सम्राट् पदकी शोभा बढ़ाते हैं। यह कवि-सम्राट् केवल अपनी असाधारण वाणीकी निपुणतासे ही काव्यगान नहीं करते, प्रत्युत सुधा-रस माधुरीको भी धराशायी करके

किसी वर्णनातीत वाङ्मनसागोचर लोकोत्तर रसवर्षाके लिए धीर-गम्भीर गर्जन करते हैं और योग्यतम विषयका सहृदय पुरुषोंके हृदयमें सेचन करते हैं। केवल इतना ही नहीं, वे अपनी विचार-वैचित्रीसे अक्षालनीय वासना-पंकदूषित अन्तःकरणको भी पवित्र, शुद्ध एवं कोमल बना देते हैं। यह केवल अपना वैदुष्य, बुद्धिदाक्ष्य अथवा उदारता प्रकट करनेका ही प्रयत्न नहीं करते, प्रत्युत उनके साथ-साथ अज्ञानके दल-दलमें फँसे हुए लोगोंको वहाँसे ऊपर उठानेके लिए ज्ञानका श्रेष्ठ सहारा भी देते हैं। कवि-कौस्तुभ कालिदास अपनी कल्याणी गीर्वाणी वाणीसे ही केवल ऊँची योग्यता और उदारता प्रकट नहीं करते, उसको कार्यरूपमें परिणत करते हैं। उनकी योग्यता और उदारता भी केवल छिछले स्तरपर नहीं है। उसमें धर्म-निरूपणका कौशल एवं औपनिषद तत्त्वविज्ञान भरा हुआ है। उनका धर्म और विज्ञान भी केवल परोपदेश-कौशलमात्र नहीं है, आचरणके सौरभसे सुरभि है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कालिदास कविसम्राट् होनेके साथ महर्षि भी हैं—ऐसा कहनेमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है। जैसे ऋषि, राजर्षि, महर्षि इन शब्दोंका प्रयोग पृथक्कृत अर्थमें होता है, वैसे ही कवि, महाकवि और कवि-सम्राट्। आप जानते ही हैं कि ऋषि, कवि आदि शब्दोंकी प्रवृत्तिका निमित्त जाति नहीं है। ऋषि या कविका पुत्र भी ऋषि या कवि नहीं होता। यह तो उसी व्यक्तिकी असाधारण कार्यप्रणालीसे सम्बन्ध रखता है। हमारे पूर्वजोंको ऋषि अथवा कवि संज्ञा इसलिए प्राप्त थी कि उन्होंने ऐसे अनेक भाव, धर्मांश एवं निगूढ़ तत्त्वोंका आविष्कार किया था, जो लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणके विषय नहीं हैं। जिन्होंने उन पदार्थोंका प्रभुसम्मित शासनात्मक शब्दोंमें अविष्कार किया—वे ऋषि और जिन्होंने कान्तासम्मित शब्दोंमें आविष्कार किया वे कवि। ऋषियोंके लिए नियतिकृत नियमोंका परिपालन आवश्यक है, कवियोंके लिए नहीं। कवियोंका तत्त्वदर्शन प्रतिभामूलक है। वे अपनी अपरोक्ष अनुभूतिसे जो कुछ देखते हैं, उसीको वे दृश्यात्मक अथवा शब्दात्मक अभिव्यक्ति देते हैं। उनकी वाणी कान्ता-सम्मित है। कवियोंका तत्त्वदर्शन और उसके प्रकाशनका पथ असाधारण है इसलिए कभी-कभी कवि महर्षियोंसे भी आगे बढ़ जाते हैं—ऐसा कहना असंगत नहीं है। 'जहाँ न जाये रवि, तहाँ जाय कवि।' भट्टतौतने कहा है—'जो ऋषि नहीं है वह कवि भी नहीं है। ऋषि तत्त्वदर्शी है। दर्शन है—विचित्रभाव, धर्मांश और तत्त्वकी अभिव्यक्ति। कविकर्म केवल दो हैं—दर्शन और

वर्णन। जबतक आदिकवि वाल्मीकिके मुखसे कविताका उदय नहीं हुआ, तबतक उनके स्वच्छ एवं नित्य दर्शनकी वर्णना नहीं हुई इत्यादि।'

कविकुल-कमल दिवाकर कालिदास दृश्य एवं श्रव्य—दोनों प्रकारके काव्योंकी रचना करते हैं। उनमें केवल कथावस्तुका ही वैशिष्ट्य नहीं होता, प्रत्युत इहलोक और परलोकके हितके लिए फल-पर्यवसायी उपायोंका आविष्कार होता है। जब इन्हीं पदार्थोंका ललित-ललित शैलीसे आख्यायिकाके रूपमें वर्णन किया जाता है, तब यह भावुक सज्जनोंको सम्पूर्ण रूपसे हृदयंगम हो जाते हैं, उनका अनुष्ठान होने लगता है और उनका फल भी मिलता है। इसी दृष्टिसे कालिदासकी नवरस-रुचिरा निर्मिति है।

वेद प्रभुसम्मित शब्दोंमें उपदेश करता है—'आचार्य वेदका अनुवचन करके अपने अन्तेवासीको अनुशासन देता है। सत्य बोलो। धर्म करो। स्वाध्यायमें प्रमाद मत करो। श्रद्धासे दान करना चाहिए और यदि कभी तुम्हें कर्मसम्बन्धी अथवा सदाचार-सम्बन्धी ऊहापोहका उदय हो तो उसके सम्बन्धमें ब्राह्मण जैसा आचरण करते हों, वैसा तुम भी करना। ब्राह्मण कौन हैं? जो विचारशील मीमांसक हैं, संयमी, अनुष्ठाननिष्ठ हैं और निर्लोभ धर्म-कामुक हैं।' यही बात कविसम्राट् अपनी सरस काव्य-रचनामें एक मधुर संवादका उपन्यास करके सहृदयोंके लिए हृदयग्राही बना देते हैं। उदाहरण देखिये—एक महर्षि हैं—वरतन्तु। उनके शिष्य हैं—कौत्स। शिष्यके आग्रहपर गुरुने दक्षिणा लेना स्वीकार कर लिया। वे गये दानवीर महाराज रघुके पास। गुरुदक्षिणाके लिए चौदह करोड़ सुवर्ण-मुद्राकी याचना की। रघु अभी-अभी विश्वजित् यज्ञ करके उठे थे। उनके पास अर्घ्य देनेके लिए भी मृन्मय पात्रके अतिरिक्त और कुछ न था। उन्होंने संकल्प किया कि मैं कुबेरपर विजय प्राप्त करके कौत्सका मनोरथ पूर्ण करूँगा। बस, क्या था? प्रातः-काल चढ़ाई करनेका निश्चय हो गया। यक्षराज कुबेर रघुके अमानुष पराक्रमसे अत्यन्त भीत हो गये और उनके कोष-गृहपर सुवर्ण-राशिकी वर्षा कर दी। रघु और कौत्समें मतभेद हो गया। रघु कहते थे—सब ले जाओ। कौत्स कहते थे—गुरु-दक्षिणाके अतिरिक्त मुझे और धन अपेक्षित नहीं ह। अयोध्याकी जनता 'धन्य-धन्य' बोलकर अभिनन्दन कर रही है। कविसम्राट्के ही शब्दोंमें रस लीजिये—

जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ
द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ।

गुरुप्रदेयाधिकनिस्पृहोऽर्थी
नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च ॥[1]

श्रुति प्रमाणित करती है—'सत्यसे प्रमाद कभी नहीं करना चाहिए—सत्यान्न प्रमदितव्यम्', कालिदास कहते हैं—'रघुवंशी सत्यके लिए मित भाषण करते हैं—'सत्याय मितभाषिणाम्।' सत्यकी रक्षाके लिए एक युक्ति भी बता दी—थोड़ा बोलो। श्रुतिने कहा—'सन्तान - परम्पराका विच्छेद मत करो।' कालिदास कहते हैं—'रघुवंशी केवल वंश-परम्पराकी रक्षाके लिए गृहस्थाश्रम स्वीकार करते थे, भोगके लिए नहीं।' श्रुतिका निर्देश है—'स्वाध्याय-प्रवचनसे प्रमाद नहीं करना चाहिए।' कालिदासका रघुवंशी शैशवमें ही चतुर्दश विद्याओंका अभ्यासी हो जाता है। यह धर्मानुशासन है अथवा काव्य-रचना? यह ऋषि बोल रहा है या कवि? आप ही विचार कीजिये।

रघुवंशियोंका वर्णन करते समय श्लोकके दो पद परस्पर विरुद्ध जान पड़ते हैं। एकमें कहा गया है—'वे यौवन दशामें विषयकी कामना करते थे', दूसरेमें कहा गया है कि 'केवल वंशरक्षाके लिए विवाह करते थे।' दोनोंमें क्या स्वारस्य है? इसका अभिप्राय यह है कि कामरूप तृतीय पुरुषार्थका सेवन इस ढंगसे करना चाहिए कि धर्मका विरोध न हो। इसी विषयको वे 'रघुवंश'के सत्रहवें सर्गमें भगवान् रामभद्रका विशिष्ट स्वभाव वर्णन करते हुए स्पष्ट कहते हैं—

न धर्ममर्थकामाभ्यां
ववाधे न च तेन तौ।
नार्थं कामेन कामं वा
सोऽर्थेन सदृशस्त्रिषु ॥

रामचन्द्र अर्थ-कामका सेवन करते थे, परन्तु उससे धर्ममें बाधा नहीं पड़ती थी। उनका धर्म भी अर्थ-कामके विरुद्ध नहीं होता था। कामसे अर्थमें या अर्थसे काममें बाधा नहीं पड़ती थी। वे तीनोंमें समान वर्तन करते थे। इस प्रसंगमें जो बात अन्वय-मुखसे कही गयी है, वही अज और अग्निवर्णके चरित्रमें व्यतिरेक मुखसे विशद की गयी है। अजने इन्दुमतीका पाणिग्रहण किया। अनेक भोग भोगे। वह पुष्प गिरनेसे निष्प्राण हो गयी। अज उसके साथ चितापर जलना चाहते थे परन्तु लोकके कलंक-पंककी शंकासे डरकर वैसा न कर सके।

---

१. साकेतनिवासी जनसमूह दोनोंके ही धैर्य, गाम्भीर्य, औदार्य आदि सद्गुणोंका भूरि-भूरि अभिनन्दन कर रहा है। किनका? एक तो उस अद्भुत याचकका जो गुरु-प्रदेय दक्षिणासे अधिक लेना नहीं चाहता और दूसरे उस राजाका जो याचककी कामनासे अधिक देनेके लिए उत्साह-पूर्वक तत्पर है।

चिन्ताका रोग हुआ। चिकित्सा हुई नहीं। अन्ततः उन्होंने अपना शरीर गंगा-सरयूके संगमपर छोड़ दिया। ठीक इसी प्रकार सूर्य-वंशावतंस अग्निवर्ण सम्पूर्ण रूपसे स्त्री-लम्पट हो गये। मर्यादातिक्रमणसे रोगी होकर मर गये। इन दोनों प्रसंगोंमें कालिदासने वेदका सार-सार तात्पर्य भलीभाँति प्रकाशित कर दिया है कि कामनाओंकी निर्मर्याद पूर्ति अनर्थका कारण है और इन्द्रियसंयम परम-कल्याणकारी कर्त्तव्य है।

अब विवाहसम्बन्धी प्रकरणपर दृष्टि डालिये। वर-पक्षके लोग वधूका निश्चय करनेके लिए पहले विश्वसनीय एवं दक्ष ब्राह्मण भेजा करते थे। जब वे निश्चय करके लौटते, तब वधूके दर्शन और समीक्षणके लिए वर जाता। आपस्तम्बाचार्यने दर्शन और समीक्षणके लिए एक-एक मन्त्रका विनियोग किया है। पहले मन्त्रमें वर बृहस्पति, इन्द्र और सविता देवतासे प्रार्थना करता है कि 'इस वधूको आप ऐसी लक्ष्मी प्रदान करें कि इसके भाई, पति और पुत्रकी मृत्यु न हो।' दूसरे मन्त्रमें समीक्षण करते हुए वह वधूको अभिमन्त्रित करता है कि 'इसकी दृष्टि सदा सौम्य रहे, पतिको सतावे नहीं, मंगलमयी हो, हृदय प्रेमसे भरा रहे, संवर्द्धन करे और श्रेष्ठ पुत्रकी जननी बने। भक्त हो तथा सर्वात्मना पशु, मनुष्य—सबका हित चाहे।' वे मन्त्र 'अभ्रातृघ्नी' और 'अघोरचक्षुः'से प्रारम्भ होते हैं। आपस्तम्ब धर्मसूत्रके इस प्रसंगसे यह सिद्ध होता है कि चिरकालसे ही वर-वधूके परस्पर परीक्षणकी परम्परा चली आ रही है। इस सम्प्रदाय-परम्पराको कवि-सम्राट् कालिदास भी हृदयंगम शैलीमें निबद्ध करते हैं—

अतः परीक्ष्य कर्तव्यं
विशेषात् सङ्गतं रहः।
अज्ञातहृदयेष्वेवं
वैरीभवति सौहृदम्॥

विशेषतः एकान्त संगति परीक्षण-पूर्वक ही करनी चाहिए; क्योंकि जिनके निगूढ़ स्वभावका ज्ञान नहीं है, उनकी मैत्री भी शत्रु हो जाती है।

विवाहसे पूर्व ही दम्पतिके लिए एक दूसरेके हृदय-परीक्षणकी आवश्यकता है। इस सिद्धान्तको कालिदासने दृढ़तासे स्थापित किया है। लीजिये एक उदाहरण—मेना और हिमवान्का विवाह होना है। यह है एक श्रेष्ठतम संसार। इसमें कुछ विशेष विधियाँ होती हैं। कवि-सम्राट् कालिदासका वर्णन इस बातका सूचक है कि वे एक श्रेष्ठ वैदिक एवं आदरणीय ऋषिके समान हैं।

स मानसीं मेरुसखः पितॄणां
कन्यां कुलस्य स्थितये स्थितिज्ञः।
मेनां मुनीनामपि माननीया-
मात्मानुरूपां विधिनोपयेमे॥

श्लोकमें मेनाके लिए 'मुनियोंके लिए भी माननीय'—इस विशेषणका प्रयोग किया गया है। इसके द्वारा वे मेनाके केवल शारीरिक सौन्दर्यको महत्त्व नहीं देना चाहते प्रत्युत उसकी सुशीलता, उदारता, शालीनता आदि अंतरंग सद्‌गुणोंको भी। 'विधिपूर्वक विवाह किया गया' इस वर्णनसे पाणि-ग्रहण विधानको आवश्यक बताया गया है। 'कुलकी स्थितिके लिए' यह कहनेका अभिप्राय है कि विवाह केवल भोगके लिए नहीं, सन्तान-तन्तुके अनुच्छेदके लिए है। अन्यत्र कहा है कि उनके अर्थ-काम भी धर्मके लिए ही हुआ करते थे। "कन्या' कहनेका अभिप्राय यह है कि यौवनारम्भके पूर्व ही विवाहका समय है। केवल इतना ही नहीं, गौतम एवं आपस्तम्ब आदि महर्षियोंकी पद्धतिका अनुसरण करके कालिदासने मेना-हिमवान्‌की केवल दो ही सन्तानोंका वर्णन किया है—उमा और मैनाक। एक पुत्री, एक पुत्र। लगता है जैसे, वे परिवार-नियोजन और मितव्ययके पक्षमें हों। जहाँ वेदमन्त्रोंमें आशीर्वाद देते हुए दस पुत्रोंके उत्पादनकी बात कही गयी है, वहाँ कालिदास आशीर्वाद देते हैं—

> ययातेरिव शर्मिष्ठा
> पत्युर्बहुमता भव।
> सुतं त्वमपि सम्राजं
> सेव पुरुमवाप्नुहि॥

'तुम्हारा पति तुमसे वैसा ही अत्यन्त प्रेम करे, जैसा ययाति शर्मिष्ठासे करते थे। तुम्हें भी उसीके समान सम्राट् पुत्रकी प्राप्ति हो, जैसा कि पुरु था।' यहाँ पुत्रके लिए एक-वचनका प्रयोग करके 'पशवेकत्व न्याय' के समान यह सूचित किया गया है कि परिवारकी अधिक वृद्धि अभीष्ट नहीं है। आजकल हम लोग परिवार-नियोजनके लिए एड़ी-चोटीका पसीना एक कर रहे हैं, परन्तु यदि महर्षियोंके द्वारा उपदिष्ट नियमोंका अनुसरण करें, और कविसम्राट् कालिदासके आशयको समझकर उसके अनुसार चलें तो भ्रूण-हत्या आदि अनेक पापोंसे लोग बच जायँ और खाद्य संकट आदिके क्लेशसे भी बच जायँ। सबसे बड़ी बात तो यह है कि प्राचीन संस्कृति और मर्यादाका भी उल्लंघन न हो।

कालिदास गृहस्थाश्रम सम्बन्धी कर्मोंके कितने विलक्षण, विचक्षण विद्वान् हैं, इसका उदाहरण उनके काव्यमें स्थान-स्थानपर मिलता है, जहाँ वे कठिनसे कठिन श्रौत पदार्थोंको और औपनिषद-तत्त्वको खेल-खेलमें अनायास संनिविष्ट कर देते हैं। देखिए शाकुन्तल नाटकके द्वितीय अंकमें 'इष्टि' तृतीय अंकमें 'सवनकर्म' और चतुर्थ अंकमें 'इष्टि-परिसमाप्ति' शब्दोंका उल्लेख अवश्य ही कण्व मुनिके आश्रममें पंचदिनसाध्य सोम-

यागका अनुष्ठान हो रहा था। 'सवन कर्म' शब्दका प्रयोग केवल वहीं होता है, जहाँ सोमलताका अभिषव होता है, वह सोमयाग ही है। 'इष्टि' शब्दका प्रयोग वहाँ होता है, जहाँ ओषधिजन्य द्रव्यसे कर्म सम्पन्न होता है जैसे दशपूर्णमासादि। यह एक दिनसे लेकर सहस्र दिन तककी होती हैं। दुष्यन्तके मनमें बड़ी चिन्ता है कि उधर राज-कार्य है, इधर यज्ञ-यागका अवसर है, क्या करें? इस प्रसंगका गम्भीरतासे अध्ययन करनेपर स्पष्ट हो जाता है कि शुक्लपक्षकी दशमीको कण्वके आश्रममें दुष्यन्त आये थे और कृष्णपक्षकी प्रतिपदाको उन्होंने अपने नगरकी यात्रा की। कालिदास केवल श्रौत कर्मके ज्ञाता ही नहीं थे, उनका उसमें बहुत अभिनिवेश भी था। इस दृष्टिसे विचार करनेपर चरित्रनायक दुष्यन्तके चारित्र्यकी रक्षा भी हो जाती है।

कविसम्राट् कालिदासका मुख्य ध्येय है—नायकके चरित्रका परि-रक्षण। नाट्यमें यदि वह सुरक्षित हो तो सहृदयोंमें भी उसका प्रतिबिम्बन सफल होगा। जैसे मीमांसा आदि शास्त्र हैं, वैसे साहित्य भी एक शास्त्र है। हित-सहितको ही सहित कहते हैं और उसके भावको 'साहित्य'। आत्मा ही हित वस्तु है; क्योंकि वही निरतिशय प्रेमका पात्र है। काण्व शाखाके अध्येताओंका कथन है कि आत्माके लिए ही सब कुछ प्रिय होता है। इसीका प्रतिपादन करनेके लिए जैसे दूसरे शास्त्र हैं वैसे साहित्य भी है। हाँ, इतनी विशेषता अवश्य है कि दूसरे शास्त्र अंगुलिसे उस मार्गका संकेत करके चुप हो जाते हैं। सांकेतित पथपर हमको ही चलना पड़ता है, परन्तु साहित्य शास्त्र उसकी अनु-भूतिके लिए कल्पित मार्गपर हाथ पकड़कर बहुत दूर पहुँचा देता है। केवल इतना ही नहीं, रस-समुद्रमें निमग्न कर देता है।

जब कोई पुरुष प्रातःसे सायं पर्यन्त ऊँचे-नीचे, छोटे-बड़े परिश्रम-साध्य काम करते-करते थककर घर लौटता है तो उसकी साध्वी प्रेयसी पत्नी थके-माँदे प्रियतम पतिको देखकर सरस-सरस सुधासानी कल्याणी वाणीसे उसे सान्त्वना देती है। खिला-पिलाकर तृप्त करती है। उसकी त्रुटिको सुधारती है। बुरे कामसे रोकती है। ठण्डी चितवन, अंग-संचालन आदि अनेक हाव-भावोंसे उसको सुख पहुँचाती है और वशमें कर लेती है, वैसे ही यह कालिदासकी कविता-वनिता इस दुःखबहुल; नश्वर विश्वप्रपंचमें क्लेशाक्रान्त सहृदयको अपनी ओर आकृष्ट करके उसके श्रवण और नेत्रमें मधुर-मधुर शब्दार्थ-सुधाका सेचन करती है। सन्मार्ग-गामी बनाती है और तृप्त करती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जैसे

आपस्तम्ब, गौतम आदि महर्षि देश-समाजकी हित-दृष्टिसे प्रवृत्त हुए हैं वैसे ही कालिदास भी।

'शाकुन्तल'में दुष्यन्तका स्वागत-विचार इस प्रकार उट्टंकित किया गया है कि 'शकुन्तला अवश्य ही क्षत्रियके द्वारा पाणिग्रहण करने योग्य है; क्योंकि मेरा आर्य मन इसके प्रति साभिलाष हो रहा है'—यदार्यमस्या-मभिलाषि मे मनः। इस वाक्यांशपर विमर्श करें तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि कालिदास शास्त्र मर्यादाके अनुसार ही नायककी चरित्र-रक्षा कर रहे हैं। दुष्यन्त धीरोदात्त नायक है। वह धैर्यशाली, गम्भीर और कृपालु होनेके साथ-साथ अविकत्थन भी है अर्थात् वह अपने मुँहसे डींग हाँकनेवाला नहीं है। इस पद्यांशमें अपने मनको 'आर्य' कहनेसे यह सिद्ध नहीं होता कि वह अपनी प्रशंसा कर रहा है। 'यत्' शब्दका प्रयोग करके उसने विधि-मन्त्राधिकरण न्यायसे विधानमें प्रतिबन्ध उपस्थित कर दिया है। अर्थात् दुष्यन्तका मन जन्मसिद्ध आर्य है। यहाँ केवल उसका अनुवाद किया गया है। पूर्व-सिद्ध श्रेष्ठ मन जब शकुन्तलाविषयक संकल्प करता है तो वह क्षत्रिय द्वारा परिणयनके योग्य है। यहाँ उसका तात्पर्य अपनी प्रशंसामें सर्वथा नहीं है।

यह बात कालिदासकी काव्य-रचनाके सहृदय रसास्वादी विद्वानोंसे छिपी नहीं है कि यह कवि सम्राट् स्थान-स्थानपर जगन्नियन्ता परम-पुरुषका वर्णन करता है और अपनी अद्वैतमें अलौकिक निष्ठा प्रकट करता है। रघुवंशके इस पद्यार्थका मनन कीजिये—

रसान्तराण्येकरसं
यथा दिव्यं पयोऽश्नुते।
देशे-देशे गुणेष्वेव-
मवस्थास्त्वमविक्रियः॥

दिव्य एवं एकरस जल जिस रससे मिलता है उसीका स्वाद प्रकट करता है। इसी प्रकार तुम निर्विकार रह कर ही देश-देशमें, गुण-गुणमें, अवस्था-अवस्थामें अपने आपको प्रकट कर रहे हो। यह ब्रह्मके 'सत्यम्' लक्षणका निर्वचन है। जैसे जल एक मात्र मधुररस है तथापि भिन्न-भिन्न देशमें विविध रसका रूप ग्रहण कर लेता है, देश-सम्बन्धकी निवृत्ति होनेपर पूर्ववत् रहता है वैसे ही निर्गुण पर-ब्रह्म भी गुण-सम्बन्धसे उपरक्त होकर सगुण-सा भासता है। सम्बन्धविच्छेद होनेपर वह ज्योंका त्यों निर्गुण ही रहता है। यह उपमा स्पष्ट बतलाती है कि अनेक उपाधियोंमें अनुप्रविष्ट परमात्मा उपाधिकी विद्यमानतामें औपाधिक धर्मोंसे लिप्त नहीं होता। कालिदासके ऐसे अनेक अनवद्य एवं हृद्य पद्य हैं जिनमें परमात्माको दूर-निकट, पुराण-अजर आदि परस्पर

विरोधी शब्दोंके द्वारा वर्णित किया गया है। अवश्य ही यह वेदान्तोक्त 'अनेत्र देखता है, अकर्ण सुनता है' इत्यादि पद्धतिका अनुकरण करता है और वेदान्त वचनमें अपनी अगाध एवं अबाध श्रद्धाका अभिव्यंजन करता है। यह कविसम्राट् सरस-सरल, प्रासादिक, मधुर काव्य-कलाके आविष्कारमें अत्यन्त निपुण है। वेद, वेदान्त, धर्म, मीमांसाके चिरन्तन अभ्याससे प्राप्तव्य, गहन मननसे निष्पन्न, अलौकिक औपनिषद तत्त्व, शिष्ट-सनातन संस्कृति, विविध नीति और प्रभूत श्रौत पदार्थोंका उपदेश करनेमें कालिदास सर्वथा ऋषिकल्प है और उसका कौशल आश्चर्यजनक है। मम्मट भट्टने ठीक ही कहा है कि बोधप्रतिपादक ग्रन्थोंसे भी कान्ता-सम्मित मधुरोपदेश देनेके कारण काव्य ग्रन्थ श्रेष्ठ है। यह कविशिरोमणि स्वतन्त्र होनेपर भी कभी-कभी रसवश होकर कर्त्तव्य विषयोंका अत्यन्त सुलभ विवेचन करता है। जैसे माली मनोहर सुमनसमूहसे विचित्र माला गूँथता है, ग्रन्थियोंको विलक्षणतासे वैसे ही यह मनोहर पद-विन्याससे गरीयसी कविताका सम्पादन करता है और रसिकोंके कण्ठ एवं हृदयका शृंगार करता है। इसने सम्पूर्ण रूपसे आलंकारिकोंकी मर्यादाका पालन किया है और शिष्ट शिक्षा पद्धतिके द्वारा आज भी हमारे हृदय-कमलपर मधुकरकी भाँति गुञ्जार रहा है। इसका यश दिगन्त विश्रान्त है। इसकी कविता शरद् ऋतुके समान हृदयह्रदको विमल करती है। श्रेष्ठ रसिक उसका आदर करते हैं। इसकी कविता-कला क्या है? चन्द्र-कला है। उसके आस्वादनसे रसिकोंका हृदय-कमल उत्फुल्ल एवं सुरभि हो जाता है। यह कविताका व्यापारी ग्राहकोंका मन अपनी मुट्ठीमें कर लेता है और उन्हें अक्षय बोध-वस्तु प्रदान करता है। यह हमारा सौभाग्य ही है कि ऐसा कविसम्राट् आज भी हमारा पथ-प्रदर्शन कर रहा है। ●

एक हिन्देशियायी गीत

गुलाबका फूल

मैं गुलाब का फूल
आओ, क्षण-भर बैठो मेरे कूल।
इच्छा के चरण नहीं थकते,
इच्छा के बीज नहीं पकते।
इच्छा अनन्त अछोर आग्रह,
इच्छा द्रुपद-सुता दुकूल।

मुझे को सहलाऊँगा।
अगम-रहस्य बताऊँगा।
खोलूँ घूँघट के पट सब,
छिप न सकेगी ठगिनी-भूल।
आओ, क्षण-भर बैठो मेरे कूल।

—अनु० (कान्तिलाल जैन)

१. मेरे घरमें चोरी क्यों हुई ?

मैं काशीमें पढ़ता था। अवस्था होगी पन्द्रह-सोलह वर्षकी। घरसे मेरे वयोवृद्ध सम्बन्धी पाण्डेयजी आये। उन्होंने बतलाया कि घरपर चोरी हो गयी है, तुरन्त घर चलो। मैं पहली गाड़ीसे घर गया। उन दिनों मार्ग तय करनेमें प्रायः एक रात्रिका समय लगता था। कुल ढाई सौके लगभग चोरी गये थे। उतनेमें एक बीघा जमीन खरीदी जा सकती थी। दस रुपये महीनेके लगभग खर्च करके मैं दो वर्ष पढ़ सकता था। मनमें चिन्तन होने लगा—मेरे घरमें चोरी क्यों हुई ? पिता, पितामह, माता—सभी सनातनधर्मी ब्राह्मण, धर्मभीरु। मैंने कभी किसीकी चोरी न की, न करवायी, फिर यह चोरी क्यों ?

घर पहुँचनेपर मैंने खोज की। यह पता लगा कि मेरे घरमें एक छोटी जातिकी स्त्री काम करनेके लिए आया करती थी और रहती भी थी। उसका चोरोंके साथ सम्बन्ध था। चोर चोरी करके माल उसको दे देते थे और वह लाकर मेरे घरमें रख दिया करती थी। वह स्त्री होनेके कारण सबके घर चली जाती और माल कहाँ रखा है, इसका पता चोरोंको बताती। उन्हीं चोरीके शिकार लोगोंमें-से किसीने मेरे घरमें चोरी करवायी थी। उस चोर स्त्रीका संसर्ग भी एक पाप था। और देखनेमें ऐसा आया है कि मनुष्यको अपने जीवनमें किये हुए पापोंका फल भी इसी जीवनमें भोगना पड़ता है।

२. चोरीका माल लौट आया

मेरी जन्मभूमिका गाँव छोटा-सा है। एक सिरेपर मेरा घर और ठीक दूसरे सिरेसे बाहर चमारोंका घर। उन दिनों छूतछातका जोर था। गांधीजीका हरिजन-आन्दोलन भी वहाँतक नहीं पहुँचा था। नेताओंने वोट लेनेके लिए लोगोंकी वासनाएँ उभारी नहीं थीं। रातमें दुक्खू चमारके घरमें आग लग गयी। मेरे प्राण छटपटाने लगे। मैं दौड़कर चला गया। लोग रोकते ही रह गये। यथाशक्ति प्रयत्न किया गया—कुछ बचा, कुछ जला। मनको बड़ी तृप्ति हुई कि मैंने कुछ किया।

दूसरे दिन दोपहरसे पहले दुक्खू काका आये। मैं उन्हें बड़े-बूढ़े होनेके कारण 'दुक्खू काका' कहता था और वे मुझे 'भैया' कहते थे। वे अपने साथ एक

वेष्टनमें बँधी हस्तलिखित शुक्लयजुर्वेद-संहिताकी पोथी लाये थे। उनका कोई लड़का मेरे घरसे कभी चुरा कर ले गया था। वह ज्यों-की-त्यों मेरे पास लौट आयी। मैं कह नहीं सकता, उस दिन मुझे कितनी प्रसन्नता हुई थी! वह थोड़ा-सा शुभ कर्म मेरे अन्तरमें एक प्रत्यक्ष-स्वर्ग डाल गया था।

३. दीवाला निकल गया

एक सज्जन व्यापारी थे, युवा और श्रद्धालु। थोड़ा जप-तप भी करते थे। उन दिनों उनके पास आठ-दस लाख रुपयेकी सम्पत्ति थी। मनमें लोभ बढ़ा। देवता उन्हें स्वप्न देने लगा। उन्हें स्वप्नमें सट्टेके नम्बर मालूम पड़ जाते। कुछ ही वर्षोंमें उनके पास साठ-सत्तर लाख रुपये हो गये। मैंने और उनके मित्रोंने उन्हें बहुत समझाया। हाथमें गंगाजल लेकर शपथ दिलायी। उन्होंने प्रतिज्ञा भी की कि मैं अब सट्टा नहीं करूँगा। परन्तु तृष्णाकी प्यासका अन्त नहीं है। वे अपनेको नहीं रोक सके। सम्भव है देवता भी उनकी बढ़ती माँगसे परेशान हो गया। स्वप्नमें गलत नम्बर आने लगे और सब स्वाहा हो गया। मकान गये, दुकान गयी, दूसरेके घरमें रहना पड़ा। सच पूछो तो मनुष्यका जीवन स्वप्नके आधारपर नहीं चल सकता। इसके लिए ठोस परिश्रमकी आवश्यकता है। दीवाला निकल गया। दूसरेके घरमें पराश्रित होकर परायी सहायतापर जीवन व्यतीत करना पड़ा। परमुखापेक्षी मनुष्यकी यही गति होती है। आप देवता, स्वप्न, भूत-प्रेत, ग्रह-नक्षत्र और शकुनके विश्वासपर नहीं, ईश्वरके भरोसेपर अपने पौरुषसे जीवन बितानेका दृढ़ संकल्प करें।

४. दीवाला नहीं निकला

गुजरातके एक बड़े सेठ थे। बड़े उदार, बड़े दाता। उनके पास आकर कोई खाली हाथ न लौटता। उन्होंने मुझे एक बार आपबीती सुनायी थी। सेठने कहा—"मेरे जीवनमें एक बार ऐसा प्रसंग आया कि ऋण बहुत अधिक हो गया। कारखाना चल नहीं रहा था। अपनेको दिवालिया घोषित करनेके अतिरिक्त चारा नहीं था। दुखी होकर एक महात्माके पास गया। उनसे कहीं एकान्तमें जाकर बस जानेके लिए स्थान पूछा। महात्माने कहा—'सेठ! सच-सच बता, तूने अपने लिए कुछ धन छिपाकर रखा है या नहीं।' मैंने उन्हें बता दिया कि 'मैंने अपने पास दो लाख रुपये छिपाकर रखे हैं।' महात्माने कहा—'सेठ! इन रुपयोंको धर्मके काममें लगा दे। ईश्वर तेरी रक्षा करेगा। धर्ममें स्वयं इतना सामर्थ्य है कि वह जिसमें रहता है उसका सम्पूण रक्षा करता है।" सेठने श्रद्धापूर्वक महात्माकी आज्ञा मान ली और उन रुपयोंको धर्ममें लगानेका संकल्प कर लिया।

बस, दो ही चार दिनोंमें ऐसा चमत्कार हुआ कि किसी दूसरे बड़े सेठने चुपचाप उनकी इतनी बड़ी सहायता कर दी कि उनका सब काम ठीक-ठाक चलने लगा। तभीसे सेठने प्रतिज्ञा कर ली कि मेरे पास आकर कोई खाली हाथ न लौटे और आजीवन उसका निर्वाह किया। आज उसके नगरमें संस्कृत विद्यालय, अँग्रेजी कॉलेज, हास्पिटल, आयुर्वेदिक औषधालय, महात्माओंका निवास-स्थान—सब ओर उन्हींका नाम गूँजता है। धन रोकनेसे नहीं रुकता, भागता है। हाथ ढीला करनेसे और-और आता है।

५. निन्दा निन्दकके घर आती है

एक परिवार है—सुसंस्कृत, शिक्षित एवं स्वच्छ। अबसे तीस वर्ष पूर्व उन लोगोंको अपनी पवित्रताका बहुत बड़ा अभिमान था। वस्तुतः वे पवित्रताके अभिमानके अधिकारी थे। परन्तु उनके घरमें एक दोष प्रविष्ट हो गया, जो उनके-जैसे नहीं थे, जिनके आचरणमें कोई दोष था, उनकी वे डटकर निन्दा करते थे। जब वे लोग इकट्ठे होकर परस्पर चर्चा करते थे तब किसके अन्दर क्या-क्या दोष हैं? किसकी बहू-बेटी कैसी है? कौन साधु कैसा है? बस, भगवद्गुणानुवादके स्थानपर यही वार्तालाप होता। अभी कुल तीस वर्ष ही व्यतीत हुए हैं, उनके परिवारमें वे सारे दोष आ गये हैं जिनकी वे निन्दा करते थे। निन्दा करनेसे अज्ञातरूपसे श्रोता और वक्ता—दोनोंके चित्तपर दुर्गुण अपनी छाप छोड़ जाते हैं और समयपर उनके अंकुर फूटते हैं। जब-जब हम उस परिवारके लोगोंको देखते हैं, मनमें यही आता है कि निन्द्यके दोषोंका निन्दकके मनमें संचार होनेका यह एक बढ़िया नमूना है।

६. बेईमान और ईमानदार

हमारे गाँवके पास एक वस्त्रके व्यापारी रहते थे। ग्राहकोंके साथ उनका व्यवहार अच्छा नहीं था। दिखाते कुछ, देते कुछ, नापते कम। थोड़े ही दिनोंमें लोगोंमें उनकी बदनामी हो गयी। ग्राहकोंने आना बन्द कर दिया। दूकान टूट गयी। ठीक इसके विपरीत एक मुसलमान सज्जन उचित दामपर वस्तु बेचते। ग्राहक भोला-भाला हो, चाहे बालक हो, उससे अधिक दाम नहीं लेते। प्रेमसे बोलते, व्यवहारमें सौजन्य बरतते। उनकी दुकान चौगुनी, अठगुनी बढ़ गयी। ईमानदारीका नतीजा प्रत्यक्ष देखनेमें आता है। सच्ची बात तो यह है कि मनुष्यका स्वभाव है कि वह अपने अतिरिक्त सबको ईमानदार देखना चाहता है। इसीसे जहाँ-जहाँ उसको ईमानदारी दिखती है, उसका स्वाभाविक आकर्षण होता है।

७. लोभवश अपना स्तर मत गिराओ

एक उद्योगपतिका वस्त्र बनानेका कारखाना खूब चलता था। कपड़ेकी मजबूती, स्वच्छता, टिकाऊपन—सब प्रसिद्ध था। लोग पसन्द करते थे। उन सज्जनके जमाई बाबूका काम कुछ ढीला पड़ गया। उद्योगपतिने अपने जमाई बाबूको बुलाकर उस मिलका काम सौंप दिया और स्वयं दूसरा काम देखने लगे।

जमाई बाबूने सोचा कि अपनी सूझ-बूझसे कुछ ऐसा चमत्कार दिखाना चाहिए कि मिलकी आमदनी बढ़ जाय और मेरे ससुरजी आश्चर्यचकित हो जायँ। उन्होंने घटिया किस्मका कच्चा माल लगाकर खर्च घटा दिया और वस्त्रकी कीमत ज्यों-की-त्यों रहने दी। एकाध वर्ष तक व्यापारियों तथा उपभोक्ताओंका ध्यान इस ओर नहीं गया। बिक्री ज्यों-की-त्यों रही। लाभांश बढ़ गया। परन्तु जब लोगोंका ध्यान इस ओर गया, तब माँग घट गयी और मिलमें स्टाक जमा होने लगा। नीचेके कर्मचारियोंने सेठतक बात पहुँचायी। उन्होंने जमाई बाबूको वहाँसे हटाकर वस्त्रकी कीमत घटाकर बाजारमें बेच दिया और फिर बढ़िया किस्मका कच्चा माल लगाकर माल बनाने लगे। जमाई बाबूको हटाने, कीमत घटाने और फिर बढ़िया माल लगानेसे उस मिलके वस्त्रकी प्रतिष्ठा बढ़ गयी और उसकी दिनोंदिन उन्नति होने लगी। लालचके वश होकर अपने मालकी किस्म नहीं बिगाड़नी चाहिए।

८. रोग दूर न होनेका रहस्य

बीस वर्ष पहलेकी बात है। कानपुरमें नब्बे वर्षके एक वयोवृद्ध डाक्टर थे। वे प्रतिदिन प्रातः परिभ्रमणके लिए रिट्रीटमें आते। उन दिनों मैं वहीं चायना-हाउसमें रहता था। वे देश-विदेशमें रहकर बहुत अनुभव प्राप्त कर चुके थे। संसर्ग और आलापसे घनिष्ठता बढ़ गयी। मैंने पूछा—'डाक्टर! पहले समयमें साधारण चिकित्सासे भी रोगी रोग-मुक्त हो जाते थे। अब बड़ी-बड़ी चिकित्सा करनेपर भी रोगोंकी निवृत्ति प्रायः नहीं होती। इसका क्या कारण है?'

डाक्टरने कहा—'स्वामीजी! अबसे पचास वर्ष पूर्व नब्बे प्रतिशत रोगी शरीरके रोगी होते थे और दस प्रतिशत मनके रोगी। हम शारीरिक रोगीको ओषधि करते थे और नब्बे अच्छे हो जाते थे, दस नहीं होते थे। आज परिस्थिति यह है कि नब्बे प्रतिशत मनके रोगी आते हैं और दस प्रतिशत शरीरके। हमारे ओषधिसे केवल दस प्रतिशत ही अच्छे होते हैं। किसीकी घाटेके भयसे धड़कन बढ़ गयी या उसे दस्त लगने लगे तो वह दवासे कैसे अच्छा होगा। उसको तो घाटा दूर करनेका आश्वासन चाहिए, तब वह अच्छा होगा।'

आजकल रोग दूर न होनेका यही रहस्य है। ●

बाहरी आचार-व्यवहारकी विषमताओंके बावजूद भिन्न-भिन्न भाषाओंके परिधानोंके माध्यमसे भक्तिकी तरल भावुक धाराने देशके एक छोरसे दूसरे छोरतक प्रवहमान होकर संत्रस्त मानव-जातिको विश्वास एवं शक्तिका सम्बल दिया है, यहाँ प्रस्तुत है ऐसी ही भक्ति-धारा प्रवाहित करनेवाली तमिल, कन्नड़, मराठी तथा हिन्दीकी चार भक्त-महिलाओं—आण्डाल, अक्क महादेवी, जनाबाई और मीराका एक तुलनात्मक अध्ययन ।

भक्तिधारा : भावात्मक एकता

डा० पी० जयरामन

भगवान्‌में अनन्य प्रेमका नाम भक्ति है। प्रेमकी पराकाष्ठा ही भक्ति है और प्रेम ही भक्तिका पूर्ण रूप है। जब आराधक और आराध्य एक हो जायँ और आराधक भक्तकी सारी द्वैत भावना लुप्त हो जाय तब वही तन्मयता पराभक्ति हो जाती है। यही ईश्वरविषयक तन्मया-शक्ति भक्ति है। इसीके बारेमें शांडिल्य भक्तिसूत्रमें कहा गया है, 'सा परा अनुरक्तिः ईश्वरे', इसी भक्तितत्त्वको भगवान् श्रीकृष्णकी इस उक्तिमें हम पाते हैं, 'मयि चानन्य-योगेन भक्तिः अव्यभिचारिणी' (गीता) भगवान्‌के प्रति भक्तकी जो पूज्य भावना होती है उसमें श्रद्धा, प्रेम आदि विविध चित्तवृत्तियोंका संयोग होता है। नारद भक्तिसूत्रमें भी भक्तिको 'परमप्रेमरूपा' कहते हुए यह सिद्ध किया गया है कि भक्तिभावसे शोक, द्वेष, रति आदिका शमन होता है और इस प्रकार द्वयताका स्वतः ही निषेध हो जाता है। भागवतके सप्तम स्कन्धमें श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन आदि नौ भेद भक्तिके बताये गये हैं और प्रसिद्ध वैष्णव-ग्रन्थोंमें शान्त, सख्य, दास्य, वात्सल्य, मधुर आदि पांच प्रकारकी भक्तिका प्रतिपादन हुआ है।

फिर भी भक्ति मूलतः भावप्रधान होती है। अतएव भगवच्चिन्तन करते-करते भगवान्‌के प्रति रति उत्पन्न होती है। इस रतिभावकी चरम परि-णति प्रपत्ति तथा शरणागति है अर्थात् शरीर, मन एवं प्राणको भगवन्मय कर देना है। यही 'अनन्यभाव भक्तिकी कसौटी है। भक्तिकी विभिन्न विधाओंमें मधुराभक्तिको सर्वोत्कृष्ट माना गया हैं। यह ईश्वरपरक शृंगार भाव है,

लौकिक प्रेम जब लोकोत्तर हो जाता है तब माधुर्य भक्ति कहा जाता है, रूपगोस्वामी (१५-१६ शती ईस्वी) के ग्रन्थ 'उज्ज्वल नीलमणि' के अनुसार अलौकिक रागानुगा भक्ति माधुर्य भक्तिके नामसे अभिहित है।

भावात्मक एकताके विनिर्माणमें योग

धर्मप्राण भारतवर्षके विभिन्न प्रदेशोंमें अनेक सन्त भक्त अवतरित होकर भक्तिकी मन्दाकिनीमें जन-मनको निमज्जित कर चुके हैं। बाहरी आचार-व्यवहारकी विषमताओंके बावजूद भिन्न-भिन्न भाषाओंके परिधानोंके माध्यमसे भक्तिकी तरल भावुक धाराने देशके एक छोरसे दूसरे छोर तक प्रवहमान होकर सन्त्रस्त मानव जातिको विश्वास एवं भक्तिका सम्बल दिया है। इस भक्तितत्त्व ने भारतकी भावनात्मक एकताके विनिर्माणमें महत्त्वपूर्ण योग दिया है। भारतके सभी प्रदेशोंने असंख्य भक्तोंको जन्म दिया है और सभी भाषाओंके माध्यमसे भक्तिकी अजस्र धारा प्रवाहित हुई है।

भक्तोंकी इस सुदीर्घ परम्परा द्वारा भावुक भक्तिका जो वातावरण सारे भारतमें निर्मित हुआ उसमें अनेक भक्त महिलाओंका भी महत्त्वपूर्ण योग रहा, उन भक्तिनों द्वारा अलौकिक प्रेमस्वरूपा मधुरा भक्तिका विशद रूपसे विश्लेषण हुआ है, उनकी वह माधुर्य भक्ति ईश्वरानुरक्तिमय परमप्रेमका स्वानुभूत तत्त्व है। उन्होंने लौकिक प्रेमसुखकी मांसलताको ईश्वरोन्मुख कर उसका एक अनूठा अमांसल, स्वस्थ एवं भावगम्य रूप सिद्ध कर दिया है। सूफी साधिका रबिया और ईसाई भक्तिन टेरेसा द्वारा जिस प्रकार ईश्वरीय प्रेमके पीरकी अनुभवैकगम्य उदात्तताकी पुष्टि हुई है उसी प्रकार भारतीय भक्त कवयित्रियों द्वारा भी ऐहिक सुखभोगके परित्याग, स्त्री-उचित तरल एवं तीव्र प्रेम-साधना तथा लोकोत्तर शृंगारजनित माधुर्य भक्तिकी काम-गन्धशून्य तन्मयासक्तिकी सिद्धि हुई है। उन कवयित्रियोंके गीतोंमें उनकी विरह व्याकुलता तथा आत्मसमर्पणकी मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है, जो तप्त मरुप्राय जनमानसको शीतल मन्दाकिनीका वरदान प्रदान करती है।

ऐसी भक्तिनोंमें-से तमिलकी आण्डाल् (८ वीं शती), कर्नाटककी अक्क महादेवी (१२ वीं शती) और राजस्थानकी मीरा (१६ वीं शती) के पदोंमें प्रतिपादित एक ही प्रकारकी प्रेम साधना, उपास्यके प्रति उत्कट अनुरक्ति, उक्त अनुरक्तजनित संयोग-वियोगानुभूति तथा समर्पणमय अद्वयताकी चरम सीमाको देखकर भारतीय भावधारा एवं सांस्कृतिक चिंतन-प्रक्रियाकी एकात्मकताकी चिरंतनताका हम सहज ही अनुभव कर पाते हैं,

उनके पदोंमें अभिव्यक्त आराध्यके प्रति विशुद्ध प्रेम, तज्जनित विह्वलता, करुणा, टीस एवं वेदना द्वारा उनकी कांताभक्तिकी मर्मस्पर्शिता स्वतः सिद्ध हो जाती है, नारीके हृदयमें सहज ही समर्पणकी भावना हुआ करती है, भगवान्‌की प्रियतमरूपसे उपासना तथा उपलब्धि स्त्रीभक्तके लिए जितनी सरल तथा स्वाभाविक है उतनी वह पुरुष भक्तके लिए सहज नहीं है, यही कारण है कि उक्त तीनों भक्तिनोंके काव्योंमें स्त्रीहृदय-सुलभ समर्पणका अनन्य भाव स्वानुभूत दशामें निःसृत हुआ है, ईश्वरीय प्रेमका अमल निरंजन रूप विद्यमान है तथा युग-युगके साथी प्रियतम परमतत्त्वके प्रति उनके प्रेमकी गम्भीरताके कारण अन्तरङ्गता एवं मार्मिकता उभर आयी है।

आराध्य देवताके प्रति भक्ति

तमिलकी आण्डाल्‌के आराध्य प्रेमी श्री रंगनाथ (विष्णु अथवा अवतारी श्रीकृष्ण) थे, तो कर्नाटक (कन्नड़भाषी प्रदेश)की अक्क महादेवीके उपास्य प्रियतम चेन्नमल्लिकार्जुन (शिवजी) थे और राजस्थानकी मीरा व्रजनन्दन (श्रीकृष्ण)की अनन्य अनुरक्तिमयी आराधिका थीं।

ये तीनों भक्त-कवयित्रियाँ शैशव-कालसे ही अपने-अपने आराध्य देवताके प्रति प्रेममूलक भक्ति करती थीं और भगवद्‌भजनमें ही अपने जीवनकी सार्थकता और भगवान्‌के चरणोंमें अपनेको समर्पित कर देनेमें ही अपने जीवनकी चरम उपलब्धि मानती थीं, आण्डाल्‌ने श्रीरंगनाथके प्रेममें उन्हींको अपना परम पति मानकर जीवनके ऐहिक सुखोंका परित्याग कर दिया था, विवाहयोग्य होनेके पश्चात् उन्होंने स्पष्ट घोषित कर दिया था कि वे श्रीरंगनाथको छोड़कर किसी दूसरेको वर नहीं सकतीं, कहा जाता है कि एक दिन आण्डाल्‌के पिता आलवार सन्त पेरियालवार (विष्णुचित्त)के स्वप्नमें आकर भगवान्‌ने उनसे कहा कि तुम मेरी प्रियतमा आण्डाल्‌को आभूषणोंसे अलंकृत कर मेरे पास श्रीरंगम ले आओ और मैं उससे पाणिग्रहण करूँगा, तब विष्णुचित्त आण्डाल्‌को श्रीरंगम ले गये और वैवाहिक विधियोंके साथ उन्हें भगवान्‌को समर्पित किया, आण्डाल् ईश्वरकी मूर्तिके पास पहुँचते ही उसमें विलीन हो गयीं, इस इतिश्रुतिके तथ्यका अनुशीलन करनेकी आवश्यकता नहीं है; किन्तु इससे भगवान्‌के प्रति आण्डाल्‌की तन्मयताशक्तिकी गंभीरता स्वयमेव सिद्ध हो जाती है, आण्डाल्‌का कहना था, 'यौवनसे पूरित मेरा यह शरीर उस चक्रधारी पुरुषोत्तमके लिए ही अर्पित है, उस पुरुषोत्तम पतिके लिए बने हुए मेरे इस शरीरको यदि दूसरेके उपभोग्य बनानेकी बात चली

तो मैं जीवित नहीं रहूँगी' (नाच्चियार तिरुमोलि)।

इसी प्रकार अक्क महादेवी भी अपने अलौकिक पति चेन्नमल्लिकार्जुनके सिवाय किसी दूसरेकी बननेकी कल्पना तक नहीं कर सकती थीं। किन्तु जहाँ आण्डाल् और मीराने विष्णु या उनके अवतार श्रीकृष्णके प्रति कांताभक्तिका प्रतिपादन किया है वहाँ अक्क महादेवीने शिवजीको अपना आराध्य, अपना पति एवं अपना सर्वस्व मानते हुए उनके प्रति तन्मय अनुरागको वाणी दी है। फिर भी भावना एवं अभिव्यक्तिके संदर्भमें तीनों भक्तिनोंमें समानता है, तीनोंने ऐहिक जीवनके वासनामय वातावरणका परित्याग कर परमतत्त्वको ही अपना प्रियतम माना है और उसके प्रति समर्पणमय माधुर्य भक्तिकी अभिव्यक्ति की है। अलौकिक भगवान्के प्रति प्रेमानुभूतिके सन्दर्भमें तीनोंमें एक ही भावका विलास है जिसे कामगंधरहित अलौकिक रतिभावकी संज्ञा दी जा सकती है।

अप्रतिम लोकोत्तर पति

कहा जाता है कि अक्क महादेवी अनुपम सुन्दरी थीं। अतः उनके घरवालोंको यह चिन्ता हो गयी थी कि अक्काके अनुरूप पति कहाँ मिल सकेगा। तब अक्काने उनको समझाया, ''माँ, मेरे प्रियतम रूपरहित रूपवान् हैं; मृत्युरहित तथा संकटरहित हैं। सुनो माँ, मैंने उनको वर लिया है जो अवकाशरहित, व्यवधानरहित और चिह्नरहित हैं। वही चेन्नमल्लिकार्जुन मेरे पति हैं, (वचनशास्त्र सार)

किन्तु सर्वव्यापी निर्गुण निराकार आराध्य पति चेन्नमल्लिकार्जुनकी प्रेयसीका विवाह विवशतामें राजा कौशिकके साथ हो गया था, परमतत्त्व की प्रेयसी अक्का ऐहिक वैवाहिक बन्धनमें नहीं रह सकीं। अंततः लोकलाज छोड़कर अपने अलौकिक पतिकी खोजमें उसे पानेके लिए तड़पती हुई, भजन करती हुई, बंधनोंकी शृंखलाओंको तोड़कर निकल पड़ीं। अक्का सर्वदा कहा करती थीं, 'जिस प्रकार मयूर गिरि पर्वतोंको छोड़कर घासफूसमें नहीं रह सकता, जिस प्रकार हंस सरोवरोंको छोड़कर छोटी तलैयामें नहीं रह सकता, जिस प्रकार कोयल अमराईको छोड़कर अन्यत्र कूक नहीं सकती और जिस प्रकार भ्रमर गंधविहीन कुसुमोंके पास रींकार नहीं कर सकते उसी प्रकार मैं भी अपने प्रियतम चेन्नमल्लिकार्जुनको छोड़कर किसी दूसरेके प्रति आकर्षित नहीं हो सकती' (वचनशास्त्र-सार)। अक्का उस अप्रतिम लोकोत्तर पतिको प्राप्त करनेमें ही मोक्षका अनुभव करती थीं।

अन्यत्र राजस्थानकी भक्त कवयित्री मीराके सामने गोपियोंकी कान्ता-

भक्तिका आदर्श था। मीरा बचपनसे ही 'मेरे तो गिरिधर गोपाल, दूसरो न कोई' कहा करती थीं, भगवान् कृष्णके प्रति उनका अनुराग 'गोपी भाव' पर आधारित था जो निःस्वार्थ, एकरस, नित्य एवं लोकोत्तर होता है। अपने साँवरे प्रियतमके प्रति तड़पते हृदयका समर्पण ही मीराका ध्येय था। 'णेणां वणज बसावा री, म्हारा सांवरा आवा' कहकर भगवान्में तन्मय हो जानेको अपनी सात्त्विक कामना अभिव्यक्त करनेवाली मीराको अपने लोकोत्तर सुन्दर नायक श्रीकृष्णके लिए राणाका प्रासाद छोड़ना पड़ा। लोकलाजको तिलांजलि देकर गिरधर नागरको रिझानेके लिए वे 'साधु संग बैठती' थीं और 'घुँघरू बाँध नाचती' थीं तथा उनकी चाकरी करती हुई उन्हें 'बिच-बिच निहार' लेना चाहती थीं। भगवान्की मूर्तिमें आण्डाल्के विलीन हो जानेकी जो इतिश्रुति है उसी प्रकार मीराके सम्बन्धमें भी कहा जाता है कि जीवनके भौतिक संकटोंसे तंग आकर मीरा रणछोड़जीके मन्दिरमें चली गयीं और वहाँ भगवान्की मूर्तिमें समा गयीं। मीरा जीवनभर 'सूली ऊपर सेज पियाकी, किस विधि मिलणा होय' कहकर प्रियतम भगवान्के वियोगमें तड़पती थीं और उनके मनमोहक रूपपर तन-मन-प्राण समर्पित कर देनेकी इच्छा करती थीं। उनका आजीवन यह कहना था—

'हरि म्हारा जीवन प्राण अधार,
और आसिरो णा म्हारा थे बिण,
तीनुं लोक मंझार',

अलौकिक वेदनामय माधुर्य

आण्डाल्, अक्क महादेवी और मीरा, तीनों भक्त-कवयित्रियाँ उन्मुक्त एवं निर्द्वन्द्व भावसे आकाश-विहारिणी कोयलकी भाँति स्वतः-प्रसूत रागमय गीतोंमें अपनी हृदय-संचित प्रेमसुधा बरसाती रहीं। तीनोंमें अलौकिक वेदनामय माधुर्य है जो लोकोत्तर विरहकी अग्निमें समस्त लौकिक वासनाओंके जल जानेसे निखरा है। तीनों कवयित्रियोंकी आध्यात्मिक प्रेम-भावनामें शृंगारके संयोग-वियोगात्मक पक्ष उभर आये हैं। परम तत्त्वसे वियुक्त होनेकी दशामें उनकी विरहिणी आत्माएँ तड़पती हैं और सौ-सौ आकांक्षाओंको लिए अपनी विकल व्यथाको अभिव्यक्त करती हैं। वे अपने आध्यात्मिक प्रियतमकी प्रतीक्षा करते-करते रात-दिन एक कर देती हैं, उनके मनमें मिलनकी आतुरताके साथ मिलनका पूर्ण विश्वास भी है। आण्डाल् वियोग-में कोयलको संबोधित कर कहती हैं, 'मेरे शरीरकी हड्डियाँ गल रही हैं। भालेके समान ये लम्बे-लम्बे नयन कभी बन्द नहीं होते। रात-दिन इनसे अश्रुधारा बरस रही है, दुःख-सागरमें

माधवरूपी नैयाके बिना मैं कष्ट भोग रही हूँ, हे कोयल, तू शायद इस पीड़ासे परिचित होगी जो प्रियतमके वियोगमें उत्पन्न होती है, कोयल ! तू मेरे प्रियतमको मेरे पास आनेका निमन्त्रण दे दे।' (नाच्चियार तिरुमोलि)

अक्क महादेवीकी विरह व्यथा इस प्रकार उभर आयी है, 'हे चेन्न-मल्लिकार्जुन ! तुम्हारे विरहमें आठों पहर मैं विकल होकर तड़प रही हूँ। तुम्हारी स्मृतिमें मैं दिन-रात सुध-बुध खोकर पड़ी हूँ। भूख, प्यास, नींद तुम्हारे बिछोहमें मेरे पास फटक नहीं पातीं।' और 'प्रियतम, आओ मैं हलदी लगाकर स्नान कर चुकी हूँ। सुनहली साड़ी पहन चुकी हूँ। आ जाओ प्रियतम, तुम्हारा पंथ देख-देखकर मैं थक गयी हूँ।' (वचन-शास्त्र-सार)

मीराका समस्त काव्य विरह-काव्य है। प्रिय-वियोगमें मीराको सारा संसार सूना-सूना लगता है।

'थे विण म्हाणे जग णा सुहावां,
निरख्यां सब संसार।
मीरांके प्रभु दासी रावली,
कीज्यो णेक णिहार।'

मीराको भी विरह-व्यथाकी परवशतामें रैनोंमें नींद नहीं आती। वे भी जागती-जागती रात काट रही हैं;

'रमैया बिन नींद न आवै,
नींद न आवै, विरह सतावै,
प्रेमकी आँच डुलावै।'

तीनों कवयित्रियोंकी प्रेमानुभूतिमें अभूतपूर्व समानता है, तीनों अपने-अपने प्रियतमको स्वप्नमें प्राप्त कर लेती हैं और स्वप्नमें ही उनका आध्यात्मिक विवाह संपन्न हो जाता है, जैसे मीरा 'माई म्हाणो सुपणानां परण्यां दीनानाथ, छप्पण कोटां जणां पधारयां दुलहो सिरी व्रजनाथ। सुपणा मां म्हारे परण गया पायां अचल सुहाग,' कहकर जगदीशके साथ अपने स्वप्न-विवाहकी कथा सुनाती है, वैसे ही आण्डाल् भी अपनी कतिपय रचनाओंमें विवाहकी सभी प्रथाओंका वर्णन करती हुई अपने स्वप्न-विवाहके संबंधमें कहती हैं, 'सखी, मैंने एक स्वप्न देखा, मधुसूदन सहस्रों हाथियोंके जुलूसमें आये, विवाह-मंडपमें सभी देवी-देवता उपस्थित थे, मंडप नानाविध अलंकारोंसे सज्जित था, पूर्णकुंभ रखा हुआ था, ऐसे अलंकृत वातावरणमें मधुसूदनने मेरे करोंको ग्रहण कर लिया' और अक्क महादेवी भी स्वप्नमें ही अपने प्रेमके देवता चेन्नमल्लिकार्जुनको पाकर अपने जीवनकी सफलतापर गर्व करती हैं। यह स्वप्निल आध्यात्मिक विवाह-चित्रण उन भक्तिनोंकी गम्भीर आंतरिक विरह-व्यथाका मार्मिक परिचय देता है। यह विरह-विदग्ध

स्थिति जीवकी परमतत्त्व में, 'ससीमकी असीममें आत्मसात् होनेकी जो ललक और लालसा होती है उसीकी परिचायिका है।

उक्त तीनों भक्त कवयित्रियोंकी इस आध्यात्मिक माधुर्यमयी भक्तिमें तन्मयता, आभ्यंतर मिलन, उन्माद, मूर्च्छा तथा आत्मनिवेदनकी रहस्यमयी योजना हुई है जो योग-साधनाकी चरम स्थितिका पर्याय है।

पांडुरंगकी आराधिका

इन भक्त कवयित्रियोंकी परंपरामें महाराष्ट्रकी जनाबाई (१४वीं शती) का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे पांडुरंग (विठोवा या विट्ठल) की आराधिका थीं। जनाबाईके पदोंमें भी शृङ्गारी भावोंकी भावुक अभिव्यक्ति हुई। कभी-कभी वे अपनेको राधा मानकर कहतीं,

'जनी म्हणे देवा मी झाले येसवा,
निघाले केशवा घर तुझें।'

अर्थात् 'हे देव, मैं वेश्या जैसी हो गयी हूँ और लोकलाज छोड़कर तुम्हारे घरमें आ बसी हूँ' फिर भी उनके पदोंसे यह संकेत अवश्य मिलता है कि वे राधाकृष्णकी अलौकिक जोड़ीको अपनी आँखोंसे देखनेमें मानो पूर्ण आनंदका अनुभव करती हैं। उनकी इस भावनाके मूलमें राधाके साथ उनका तादाम्यभाव भी व्यञ्जित होता है। 'कागे उशीर लागला, माझा विसर पडला। तुजवरी संसार बोल लिले घरदार' (तुम्हें देर क्यों हुई? क्या मुझे भूल गये थे? मैंने तो तुम्हारे लिए घर-बार, संसार सब छोड़ रखा है।) कहनेवाली जनाबाईकी भक्तिपरक रचनाओं (अभंग) में प्रसादमय प्रेमका प्रवाह है। किन्तु यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि जहाँ आण्डाल्, अक्क महादेवी और मीराके पदोंमें प्रपत्ति एवं समर्पणमयी रागात्मिका माधुर्यभक्तिका मार्मिक रूप पाया जाता है वहाँ जनाबाईकी रचनाओंमें आराध्यके प्रति रतिभावके स्थानपर वात्सल्य एवं करुणकी ही अधिक मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति हुई है।

फिर भी उक्त चारों भक्तिनोंके तन-मन-प्राण भक्तिमय हैं, उनके हृदयके तार-तारसे भक्तिकी रागिनी झंकृत होती है, विभिन्न शतियोंमें और विभिन्न भाषाभाषी प्रदेशोंमें अवतरित होनेके बावजूद वे चारों एक ही अनुभूति एवं प्रवृत्तिसे अनुस्यूत हैं, उनका आदर्श एक है और वही भारतकी सांस्कृतिक तथा भावात्मक एकताका प्रतिमान है।

●

वह हँसती न थी ★

प्रस्तोता—श्री चारुदेव शास्त्री
(एम० ए० एम० ओ० एल०)

वह थी राजकुमारी। कुसुम-सी सुकुमारी। सौन्दर्यकी पिटारी। माता-पिताकी प्यारी। परिवारकी दुलारी। परन्तु त्रिलोकसे न्यारी। वह रहती थी उदास। मुखपर कभी न आता हास-उल्लास। जब कोई उसके साथ विवाहका प्रस्ताव रखता, तब वह चाहे कोई क्यों न हो, 'न' बोल देती। वह अपनेको सबसे बड़ा मानती। किसी योग्यको न पहचानती। उसके पिता राजा उद्विग्न हो गये। उन्होंने आदेश दे दिया कि राजकुमारी मर्यादासे घरमें रहे। मैं इसका दान करूँगा उसको, जो इसे हँसा देगा।

कितने राजकुमार आये करके साज-शृंगार। करना चाहते थे विवाह, किन्तु पूरी न हुई चाह। हँसानेके लिए आये। प्रयत्न करके थक गये। वह रही ज्यों-की त्यों। न हँसी, न हँसी। उनका मुख हो गया उदास। लेकर गये उपहास। राजा हँसते, रानी हँसती। परिवार, परिकरके स्त्री-पुरुष हँसते। परन्तु राजकुमारी रही विषण्ण। कभी न हुई प्रसन्न।

राजप्रासादके पासमें ही एक दरिद्र परिवार निवास करता था। उसके तीन पुत्र थे। उन्होंने जब यह सब सुना, तब मनमें गुना। क्या हममें-से उसे कोई नहीं हँसा सकता? राजकुमारीका भाग्य क्या हमारे साथ नहीं जुड़ सकता। राजा है सच्चा। वह नहीं है प्रतिज्ञाका कच्चा। तीनों अपनी-अपनी कला दिखानेको विकल हुए। हृदयमें लालसा लास्य करने लगी। उनके पिता थे वृद्ध, बुद्धिसे समृद्ध। उन्होंने सन्मति दी, 'राजकुमारीसे पाणिग्रहण करनेके लिए तीनों एक साथ मत जाओ। पहले बड़ा, फिर मझला, इसके बाद छोटा। एकके असफल होनेपर दूसरा। अपना-अपना राग है, अपना-अपना भाग है।'

पुत्र थे पितृ-भक्त। आज्ञापालनमें अनुरक्त। भविष्यमें अनासक्त। सबसे पहले, पहले पुत्रने महलमें पहल की। राजाके सम्मुख रुख करके अपने अहंको प्रमुख बनाकर बोला—'मैं राजकुमारीको हँसाऊँगा। उसको अपनी पत्नी बनाऊँगा।' राजाने कहा—'युवक! यदि तुम मेरी पुत्रीको हँसा दोगे तो ऐसा कोई कारण

नहीं, ऐसा कोई वारण नहीं कि वह तुम्हारी पत्नी न बने। तुम्हारे सुख-दुःखमें तुम्हारे साथ न सने। परन्तु यह तुम्हें अज्ञात न रहे कि अनेक युवा आये। उन्होंने प्रार्थना की, प्रयत्न किया। परन्तु निष्फल चले गये। उनके किये राजकुमारी-के मुखपर मुसकानकी एक रेखा भी न आयी। अब मैं निकम्मे कन्यार्थियोंसे उद्विग्न हो गया हूँ। इनसे खिन्न हो गया हूँ। इसलिए यदि तुम भी ऐसा न कर सकोगे, तो दण्डके पात्र बनोगे।'

'यह मुझे स्वीकार है।' कहकर पहला युवक राजकुमारीके सम्मुख खड़ा हो गया। कहने लगा—'पहले मैं सैनिक रह चुका हूँ। व्यायामके कला-कौशल सीख चुका हूँ। वे थे वहाँ अनिवार्य; शीघ्रतासे कार्य। मैं उसमें चतुर नहीं था। मेरा करना सही नहीं था। सैनिक और अधिकारी देख-देखकर हँसते और लोट-पोट हो जाते।' उसने सैनिकका धारण किया वेश, हाथमें ली बन्दूक। कभी मूक, कभी वावदूक। सब कुछ करता ऊटपटांग—मानो मूर्खता नाट्य कर रही है। सब करने लगे अट्टहास—राजा, रानी, दासी, दास। सब हो गये हासके निवास। परन्तु वह राजकुमारी, उदासीनताकी मारी किञ्चित् भी न हँसी। मानो दुःखमें फँसी। राजाने देखकर उसका पाखण्ड, दिया पूरा-पूरा दण्ड।

अब आयी दूसरे भाईकी बारी। वह था अध्यापक। राजाके पास आकर कहने लगा—'मेरे मनमें है उत्साह, करूँगा तुम्हारी पुत्रीसे विवाह। मैं जानता हूँ हँसानेकी कला, जिससे हँसने लगे बला। मैं जब अपने छात्रोंके बीचमें गाता हूँ, तब उन्हें ठहाका मारके हँसते पाता हूँ।' राजाने कहा—'ठीक है पण्डित! पर कहीं बात हुई तुम्हारी खण्डित तो किये जाओगे दण्डित।'

अध्यापकने कहा—'मुझे स्वीकार है। राजाज्ञा अंगीकार है।' राजकुमारीके सम्मुख अपना स्वर-संगीत गाने लगे अध्यापक। वह गन्दा था, हँसीका पुलिन्दा था। सब विवश होकर हँसते। अट्टहासकी ध्वनि सब ओर फैल गयी। राजकुमारी चुप। मुखपर तो क्या, मनमें भी हास्यकी रेखा न खिची। राजाने कहा—'इस पाठकको दो पाठ, बेंत लगाओ साठ। यह है असमर्थ, किया अनर्थ। मूर्खको दण्ड दो, महलसे निकाल दो।' वह अपना-सा मुँह लेकर चला गया।

अब तीसरेने घरसे प्रस्थान किया। राज-सभामें विनयसे उपस्थित हुआ। परन्तु यह था बुद्धिसे

विचक्षण और भाइयोंसे विलक्षण। न इसने विवाहकी लालसा प्रकट की, न राजकुमारीको हँसानेकी प्रतिज्ञा की और न अपने गुण-गणकी प्रशंसा की। उसने नर-पतिसे निवेदन किया—'मैंने सुना है, आपको एक सेवकको आव-श्यकता है।' राजाने कहा—'मुझे सेवककी आवश्यकता है। मैं उसे रसोई घरमें इंधन और जल लानेके लिए नियुक्त करना चाहता हूँ।' युवकने कहा, 'धन्य हैं मेरे भाग्य, हो गयी मेरे मनोरथकी पूर्ति, आप हैं कल्पवृक्षकी मूर्ति। मैं आपके आदेश-निर्देशका, उपदेश-सन्देशका यथावत् पालन करूँगा।' नियुक्त हो गया।

एक दिन कुएँसे जल निकालते समय देखा कि भीतर एक मत्स्य है। वह मन्द था निःस्पन्द। युवकने अनायास ही उसे अपने पात्रमें खींच लिया। जब वह मत्स्यसहित पात्र लेकर महलकी ओर चपल चालसे चला, तब मार्गमें मिली एक वृद्धा। वह एक सुनहले हंसको ताँतसे बाँधकर घसीटती हुई जा रही थी। युवाने वृद्धासे कहा—'माँ! तुम्हारा दिन मंगलमय हो। यह हंस हंसवंशाव-तंस है। इसके पक्ष हृदय-हारी हैं।' वृद्धाने कहा—'जैसा मेरा हंस है, उससे उत्तम तुम्हारा मत्स्य है।' युवा बोला—'आओ, परस्पर बदल लें।' वृद्धाने कहा, 'मैं भी यही चाहती हूँ। ले लो यह हेम-हंस। यह जादूका चुम्बक। यदि कोई इसे हाथसे छूये तो तुम जोरसे चिल्लाना—'यदि तुम मेरे साथ चलना चाहते हो तो दृढ़तासे पकड़ लो' बस इतना ही है मन्त्र—पकड़ो और जकड़ो। इतना सुनने-के बाद चाहे कोई भी हो, एक हो या अनेक, तुम्हारे साथ चलने लगेगा।' वृद्धा चुप हो गयी। युवाने अपने मनमें कहा—'वाह री बुढ़िया, बढ़िया दिया।' हंस मछलीमें विनिमय हो गया। युवा दाम-बद्ध हंस हाथमें बंठाकर चला। अभी थोड़ी दूर चला होगा कि एक दूसरी वृद्धा मिल गयी। वह कहने लगी—'यह सुवर्णहंस, इसका उत्तम वंश। दर्शनमें रम-णीय, हीरे-सा कमनीय। मैं इसका स्पर्श करना चाहती हूँ।' युवाने कहा—'छू ले।' वह छू हो रही थी कि युवक चिल्लाया—'चली चल, चली चल, पकड़ ले, जकड़ ले।' बुढ़िया ऐसी सट गयी उस हंसके साथ कि छुड़ाये न छूटे। वह न छूटे, न टूटे। विवश होकर हंसके साथ घसीटे। चीखे-चिल्लाये। आगे-आगे हाथमें हेम-हंस लिये युवक और पीछे-पीछे घिसटती हुई बुढ़िया।

आगे मिला निर्जन। वहाँ आ गया एक दुर्जन। हंसपर पैरसे किया आघात। तत्काल उससे सट गया उसका लात; क्योंकि युवा चिल्ला उठा था—'पकड़ो-जकड़ो।' दुर्जन हो गया विवश। एक पाँव हंसमें, एक धरतीपर। लंगड़ेकी तरह छलक-छलककर चलने लगा। छूटा नहीं पाँव, आ गया गाँव। चारों सटे-सटे पहुँचे महल। वहाँ खूब थी चहल-पहल। बीचमें आ गया एक लोहार। वह करने लगा विचार। यह हंस मिल जाय तो मेरा काम बन जाय। यदि ये सब मिलकर अन्तःपुरमें जायँगे तो राजकुमारीको हँसायेंगे। फिर वह मेरी पत्नी नहीं बनेगी, सुखकी नहीं छनेगी। आओ, इन्हें टोकें, भीतर जानेसे रोकें। उसने लोहेको लम्बी सण्डासी उठायी। युवाको पकड़ लिया। युवा चिल्लाया—'पकड़ो-जकड़ो, चले चलो।' लोहार भी फँस गया। अपनी जालमें झस गया। बलवान् होनेपर भी वह अपनेको छुड़ा न सका। वह भी विवश होकर उन्हींमें मिल गया। युवा, हंस, वृद्ध, दुर्जन और लोहार एक साथ घिसटते हुए खींचते हुए, उछलते हुए चलने लगे। राजकुमारीने खिड़कीसे इस जुलूसको देखा। उसके मुखपर खिच गयी मुसकानकी रेखा। उसके ओष्ठ खिलने लगे और लोग हँसने लगे। परन्तु युवाने किया विवेक। ऐसे काम न बने एक। 'जबतक यह ठठाकर हँसेंगे नहीं, तबतक मुझे मिलेगी नहीं। ऐसा हँसाऊँगा, अधमरी करके दिखाऊँगा।' यह जुलूस पहुँचा रसोईघरके सामने। रसोईघरमें एक थी वृद्धा। शरीरकी मोटी, कदकी छोटी। मनकी खोटी। बना रही थी रोटी। वह हँसी उन्हें देखकर। भगी सब छोड़कर। कहने लगी—'इन्हें देखकर सब हँस रहे हैं परन्तु यह हंस तो आश्चर्यजनक सुन्दर है। इसे हाथसे छू लूँ। इसका माथा चूम लूँ। इसके साथ चली चलूँ।' उसने युवासे पूछा—'क्या मैं इस सुनहरे हंसको छू लूँ?' लोहार बोल पड़ा—'अरी मोटी! छू ले बुढ़िया! मुझे छू ले।' वृद्धाको आया क्रोध। वह नहीं चाहती थी कि कोई उसे मोटी कहे। उसने बड़ी करछी उठाई और लोहारपर चलाई। लोहार प्रहारका शिकार बन गया। युवा बोला—'जकड़ ले, पकड़ ले, चलो-चल।' वह मोटी-छोटी बुढ़िया भी मजबूर होकर सटी-सटी खिचने लगी। झल्लाई, चिल्लाई। राजा-रानी, नौकर-चाकर हँसते-हँसते अधमरेसे हो गये। राजकुमारी भी यह सब

देखकर विवश होकर हँसने लगी। हँसती जाय, हँसती जाय। पिताने कहा—'प्रिय पुत्री! आज तुम प्रथम बार हँसी हो। बस, बस अधिक न हँसो। अब इस युवासे कर लो विवाह, यही थी मेरी चाह।' राजकुमारीने 'ना' नहीं कहा। हो गया परिणय। मिला वरको धन-संचय। जनताको खूब मिला भोजन, प्रसन्न हुए प्रजाजन। खूब हुआ लोगोंका आना-जाना। सब ओर नाच और गाना। राजकुमारी भी गाये संगीत, हँसे और नाचे। युवाको हुआ आनन्द। पत्नी मिली सुन्दरी अमन्द। उसका रूप अनवद्य। सुकुमारता थी हृद्य। साथमें मिला प्राज्य-राज्य। वह सुखसे भोगने लगा साम्राज्य।

(एक जर्मन लोककथाके आधारपर)

दर्शन-विमर्श

देखना इस बात को है, सोचना उस बात को भी;
ज्ञात सम्मुख है सभी, भूलें न हम अज्ञात को भी।
भव-विपणि में घूमते हैं, मोल करते वस्तुओं का;
है अभी दिन सङ्ग साथी, पर न भूले रात को भी।
कमलिनी का वर विकसना है सुखद सुन्दर मनोहर;
काल की अनिवार्य गति भूलें न हम हिम-पात को भी।
पद्मिनी पर भ्रमर मड़राते सतत हैं रस-विमोहित;
साथ ही वे प्राप्त करते बन्ध, सुगति-विघात को भी।
देखकर नव जात को यदि हम हृदय में मोद पाते;
सोचना ही चाहिए तब उस शिथिलतम गात को भी।
सहजरिपु-अश्वत्थ ने उर-भूमि में यदि जड़ जमा ली;
समय लावेगा कभी उस प्रबल झंझावात को भी।
घन घटातम है निबिड़तम विपद बादल बसरते हैं;
किन्तु हम भूलें न उस सम्भाव्य सुखद प्रभात को भी।
दृष्टि जाती है जिधर कुछ दूर तक ही देख पाती;
ज्ञान-दृग से देखना है उधर के संघात को भी।
यह जगत् तो सामने है, कौन इसको भूल सकता?
सतत सोचें पर पयोनिधि-व्यक्त उस जलजात को भी।

—नन्दकिशोर झा

कैंसरसे रक्षा

सुश्री सरोज शर्मा

'शीघ्र निदान, बचाये जान'

निस्सन्देह, कैंसर एक भयंकर रोग है इतना भयंकर कि लोग इसके बारेमें बात करनेसे भी घबराते हैं। जहाँ तक हो सके, उसके रोगीसे यह बात छिपाकर रखी जाती है कि उसे कैंसर है। यदि रोगीको यह बता दिया जाय कि उसे कैंसर है तो इस सूचनाके मानसिक आघात और तज्जनित सतत चिन्ता तथा निराशासे वह कल-परसों मरनेके बजाय आज ही मर जाता है। फिर भी, यह रोग इतना भयंकर नहीं रह गया है, जितना इसे माना जाता है।

कैंसरसे होनेवाली मृत्युओंकी संख्या काफी बड़ी है, तथा कई देशोंमें तो 'मृत्युके कारणोंकी क्रमिक सूची' में, हृदय तथा धमनियोंके रोगोंके पश्चात्, इस रोगको ही दूसरा स्थान प्राप्त है। विश्व-स्तरपर किये गये अध्ययनसे यही प्रकट होता है कि कैंसर भी एक आम रोग है। यह एक ऐसा रोग है, जिससे कितने ही मनुष्य गैर जानकारी या लापरवाहीसे, या अति-रंजित भयसे मृत्युको प्राप्त हो जाते हैं, क्योंकि जब वे तंग आकर डाक्टरके पास सलाहके लिए जाते हैं,

तबतक रोग काफी बढ़ चुका होता है। काश, वे रोगकी प्रारम्भिक अवस्थामें ही योग्य डाक्टरके पास जाते।

रोक थाम

कैंसरकी बहुत सी किस्में हैं। इनमें-से कुछ किस्मोंके कारणोंका हमें पर्याप्त ज्ञान है। इस ज्ञानको उपयोग-में लाकर हम इन किस्मोंके प्रकोपको रोक सकते हैं। नीचे उदाहरणके लिए कुछ कारण दिये जा रहे हैं :—

धूम्रपान :—यह सिद्ध हो चुका है कि 'फेफड़ोंके कैंसर'का मुख्य कारण सिगरेट पीना है। इसी कारण अमरीकामें अब निर्माताओंको सरकारी आदेशके अनुसार सिगरेटके पैकेटोंपर यह छापना पड़ता है— "सिगरेट पीनेसे कैंसर हो सकता है।"

बीड़ी पीनेका शोक भी कैंसरको बढ़ावा देता है। भारतमें कैंसर-चिकित्साके सबसे बड़े केन्द्र "टाटा मेमोरियल हास्पिटल", बम्बईके डाक्टरों और शल्य-चिकित्सकोंका कहना है कि लम्बे समय तक बीड़ी पीनेका "ग्रास-नलीके कैंसर"से सम्बन्ध है।

"टाटा इंस्टिट्यूट फार फण्डामेंटल रिसर्च", बम्बई, के डा० मेहताका कहना है, पान और बीड़ीके अतिरिक्त, इसी जातिकी अन्य कई प्रकारकी बुरी आदतें भी कैंसर पैदा होनेकी सम्भावना बढ़ा देती है। उदाहरणार्थ "मुख-कैंसर"की रोगिणियोंमें, विशेष-कर मछियारिनों और धोबिनोंमें, 'छुट्टा' पीनेकी आदत पायी जाती है। इनमें "तालुके कैंसर"की काफी शिकायत मिलती है। 'छुट्टा' एक प्रकारका स्थानीय सिगार ही समझिये, जिसका जलता सिरा मुँहके भीतर रखकर कश खींचा जाता है। कई स्थानोंपर धूम्रपान मिट्टीकी चिलमके द्वारा किया जाता है। उससे भी कैंसरकी सम्भावना बढ़ती है।

तम्बाकू खाना :—"इण्डियन कौंसिल आफ मेडिकल रिसर्च"के निर्देशक डा० पी० एन० वाहीका कहना है कि तम्बाकू खानेका "मुखके कैंसर"से निकट सम्बन्ध है। वे ऐसा अनुभव करते हैं कि····(क), जितनी ही छोटी अवस्थामें तम्बाकू खानेकी लत लग जाय, "मुख-कैंसर" होनेका उतना ही ज्यादा खतरा है····(ख) यहाँ तक कि तम्बाकू चबानेमें लगाये जानेवाले समयका भी रोग पैदा करनेमें हाथ होता है!····दिन भरमें यदि तम्बाकू आधे घण्टेतक भी चबायी जाय तो तम्बाकूसे परहेज करनेवालों-की तुलनामें तम्बाकूके व्यसनियोंको कैंसर लग जानेका पन्द्रह गुना अधिक खतरा है। तम्बाकू खानेसे गालोंकी भीतरी झिल्ली, मसूढ़ों और होठोंको सबसे ज्यादा हानि पहुँचती है।

पान खानेकी आदत

"टाटा मेमोरियल हास्पिटल",

बम्बईके डाक्टरोंका अनुभव यह भी है कि भारतमें, "मुखमें होनेवाले दुःसाध्य अर्बुद", (ट्यूमर) अधिकतया, पानके शौकीनोंमें पाये जाते हैं। उनका विचार है कि पान कैंसर तथा कैंसरपूर्वके घावोंको पनपाता और बढ़ाता है।

यह जानना, न केवल मनोरंजक, बल्कि अर्थपूर्ण भी है कि सिख और पारसी लोग अपने धार्मिक नियमोंके कारण सिगरेट और पानका सेवन नहीं करते। इन जातियोंके लोगोंमें, अन्य भारतीयोंकी तुलनामें—(जिसमें सिगरेटके और पानका रिवाज है)—कैंसरके मामले केवल एक-तिहाई ही पाये जाते हैं।

सोडियम साइक्लामेट

'ऐरेटिड वाटरों' तथा अन्य मीठे पेयोंमें 'सैकरीन'की तरहका ही एक पदार्थ 'सोडियम साइक्लामेट', (जो चीनीकी अपेक्षा ५०-६० गुना अधिक मीठा होता है) मिठासके लिए डाला जाता रहा है। सैकरीनके मिठासमें कुछ-कुछ 'घुटापन' और कड़वाहट भी होती है। परन्तु 'साइक्लामेट'का मिठास 'खिला हुआ' और स्वादवर्धक होता है। इसलिए 'ठण्डे पेयों'में इसका उपयोग बहुत व्यापक हो गया था। परन्तु, वैज्ञानिक शोधसे अब यह निर्णीत हो चुका है कि 'साइक्लामेट' भी कैंसर पैदा कर सकता है। लम्बे समयसे चले आ रहे इस विवादास्पद प्रश्नका निपटारा हो जानेके बाद पिछले तीन-चार महीनोंमें अनेक देशोंकी सरकारोंने इसका प्रयोग निषिद्ध कर दिया है।

व्यावसायिक तत्त्व

कैंसरके मामलोंका सर्वेक्षण और अध्ययन करनेसे यह भी प्रकट हुआ है कि कई व्यवसायोंका कैंसरके साथ सम्बन्ध है, जैसे कि····(१) 'एसबेस्टस'की खानोंमें काम करने वाले। और·········(२) ऐनिलीन-रंगोंके उद्योगमें लगे कर्मचारियोंको कुछ खास किस्मके कैंसर हो जाते हैं। कर्मचारियोंको इन परिस्थितियोंसे अलग कर या हानिकर पदार्थोंसे सुरक्षा प्रदानकर इन दोनों प्रकारके कैंसरोंसे बचाया जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कैंसर पैदा करनेवाली बहुत-सी चीजें पकड़में आ गयी हैं, और 'राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तरपर हो रही खोज' कैंसरके अन्य कारणोंका पता लगाकर उनको रोकने, या मनुष्यके वातावरणसे उनको समाप्त करनेमें योगदान करेगी। परन्तु अभी तक की स्थिति यह है कि बहुत-से कैंसरोंकी रोक-थाम सम्भव नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि आजका चिकित्सा-विज्ञान इतना समर्थ है कि कैंसरग्रस्त रोगीको प्रारम्भिक अवस्थामें रोगसे मुक्त कर दें।

निदान और उपचार

पिछले कुछ वर्षोंमें 'कैंसरीय रोगों'को पहचान लेने और उनका इलाज करनेमें बड़ी प्रगति हुई है। शल्य-चिकित्सा, औषधों, एक्सरे, तथा रेडियो-विकिरण द्वारा अकेले-अकेले, या इनके मिले-जुले प्रयोगसे कैंसरीय रोगोंके उपचारमें अद्भुत सहायता मिली है। कुछ हालतोंमें कैंसरका पूरा इलाज अब सम्भव हो गया है और लगभग सभी प्रकारके कैंसरोंपर काबू पाया जा सकता है। उदाहरणके लिए 'चमड़ीके' लगभग सभी कैंसर तथा 'गर्भाशय-ग्रीवाके' ८० प्रतिशतसे भी अधिक कैंसर ठीक हो सकते हैं, बशर्ते कि उनका इलाज प्रारंभिक अवस्थामें ही शुरू कर दिया जाय।

कैंसरके निदान और उपचारके लिए 'और भी अधिक सार्थक' आविष्कार अब ज्यादा दूर नहीं हैं, दुर्भाग्य यही है कि इसकी पहचान और इलाजके लिए जो साधन उपलब्ध हैं, उनसे उचित लाभ नहीं उठाया जा रहा है।

व्यापकता

भारतमें एक लाख आदमियों पीछे ८५को कैंसरका रोग पकड़ता है। विश्व भरमें प्रतिवर्ष ५० लाख 'कैंसरके नये केस' होनेका अनुमान है। औसतन प्रत्येक रोगी तीन साल तक जीवित बचता है। कैंसरके विरुद्ध अभियानके कदम धीमे जरूर हैं, परन्तु ठोस हैं, उन्नत देशोंमें कैंसरसे मुक्त होनेवालोंकी दर १९३७ में १५ के पीछे ३ थी, परंतु आज ५ है। 'टाटा मेमोरियल हास्पिटल'के प्रमुख डाक्टर पेमास्टरका कहना है कि यदि समय रहते, कैंसरका रोग-निदान ठीक प्रकारसे कर लिया जाय, और शीघ्र ही उसकी शल्यक्रिया कर दी जाय तो ५५ से ६० प्रतिशत मामलोंमें रोगका इलाज पूरी तरह सफल हो जाता है।

रोगके मुख्य स्थान

कैंसरकी ज्यादातर किस्में शरीरके इन छः स्थलोंको अपना शिकार बनाती हैं—वक्ष, मलाशय-गुदा, फेफड़े, मुख-विवर, त्वचा और योनि। कैंसरसे होनेवाली लगभग आधी मौतें इन्हीं अंगोंके कैंसरसे होती हैं।

इनमें-से प्रत्येक क्षेत्रके लिए विश्वभरमें अनेक संस्थाएँ कार्यरत हैं; जिनका उद्देश्य कैंसरका शीघ्र पता लगाना, उसे रोकना, और उसे ठीक करनेकी दर बढ़ाना है।

'वक्षके कैंसर' में अपनी परीक्षा आप करने पर जोर दिया जाता है, यदि रोगका पता बिल्कुल शुरूमें ही चल जाय तो ८० प्रतिशत मामलोंमें जान बच जाती है। सिफारिश की गयी है कि सभी स्त्रियाँ महीनेमें एक बार अपनी वक्ष-परीक्षा अवश्य करें किसी भी प्रकारकी गिल्टीका

र केत या [illegible] आकारमें परि-वर्तन डाक्टरके ध्यानमें लाना चाहिए।

'मलाशय-गुदाका कैंसर' स्त्री-पुरुष दोनोंमें ही बहुत ज्यादा फैला हुआ आंतरिक कैंसर-लगभग ७५ प्रतिशत—मलाशयके निचले भागमें पैदा होते हैं, इसलिए इनका पता एक विशेष साधन 'प्राक्टोसिग्माइडोस्कोप'की सहायतासे लगाया जा सकता है। शीघ्र पता लगाकर उपचार करनेसे रोग-मुक्त होनेकी दर बहुत बढ़ जाती हैं।

सबसे बड़ा हत्यारा

'फेफड़ेका कैंसर' कैंसरोंमें सबसे बड़ा हत्यारा है। ठीक होनेकी दर लगभग केवल ५ प्रतिशत हैं, क्योंकि यह एक ऐसी खामोश बिमारी है, जिसका पता भीतर ही बहुत फैल चुकनेपर लगता है। ऊपर बताया जा चुका है कि इस प्रकारके कैंसर और विशेषकर फेफड़ोंकी बाहरी झिल्लीपर होनेवाले ७५ प्रतिशतसे भी अधिक कैंसरके लिए सिगरेट पानको जिम्मेदार बताया गया है। यह आवश्यक हो गया है कि धूम्रपान रोका जाय।

शीघ्र पता लग जानेवाले कैंसरोंमें से एक 'मुख-विवरका कैंसर' है। इससे बचावके लिए नियमित रूपसे दंत-परीक्षा कराने, रोगियोंको कैंसरपूर्वकी अवस्थाके संबंधमें चेतावनी देने, मुखमें जलन आदि होने तथा इस तथ्यपर कि सिगरेट इत्यादि पीना, तंबाकू खाना और पान खानेका, कैंसरमें हाथ होता है, बल दिया जाता है।

'त्वचाका कैंसर' गौरांगोंके देशोंमें दूसरे किसी भी प्रकारके कैंसरकी अपेक्षा अधिक लोगोंपर आक्रमण करता है। इसका बहुत जल्दी पता चल जाता है और इलाज भी हो जाता है।

गर्भाशयका कैंसर

एक समय था कि 'गर्भाशयका कैंसर' स्त्रियोंका नम्बरी जान-लेवा था। १९३५में इसकी मृत्यु-दर एक लाख पीछे लगभग तीस थी, जो आज घटकर लगभग आधी हो गयी है। यह शिक्षासंबंधी अथक प्रयास और रोगका प्रारम्भिक अवस्थामें पता लगाने तथा इलाजके क्षेत्रमें हुई महती प्रगतिका ही परिणाम है।

कैंसरके विरुद्ध हमारा युद्ध अभी अधूरा है। हमारे पास इस रोगके विषयमें जो ज्ञान उपलब्ध हैं, उससे यदि शुरूमें ही रोगका निदान और इलाज सर्वत्र सुलभ हो जाय तो आधी लड़ाई खत्म समझनी चाहिए। यदि इस वर्षका 'विश्व-स्वास्थ्य-दिवस' इस रोगके प्रति लोगोंके दृष्टि-कोणको सुधार सके, उन्हें अधिक जागरूक बना सके, तथा कैंसरको रोकनेके जो भी साधन हमारे वशमें हैं, उनकी जानकारी फैला सके तो कितने ही लोगोंको कैंसरकी भयंकर यातनासे मुक्ति मिलेगी और उनके जीवन नष्ट होनेसे बच जायँगे।

प्रिय शर्माजी !

सप्रेम नारायणस्मरण ।

आपका कहना यह है कि जो सज्जन आपके द्वारा कारखानेके प्रांगणमें दीर्घकालव्यापी संकीर्तनका आयोजन करवाना चाहते हैं; उनका अभिप्राय यह है कि गरीब मजदूरोंपर धर्म और ईश्वरका संस्कार पड़े और वे अपनी स्थितिमें सन्तुष्ट रहें तथा अपनी माँगकी पूर्तिके लिए किसी प्रकारका आन्दोलन न करें। अब आपका प्रश्न यह है कि जब सेठकी ऐसी नियत है तो मुझे संकीर्तन करवाना चाहिए या नहीं ? आप इसका उत्तर सुनिये—

आपकी बुद्धिमें दो बातें स्पष्ट हैं—(१) संकीर्तन, ईश्वर, धर्म—श्रेष्ठ वस्तु हैं; (२) गरीब अपनी गरीबीमें सन्तुष्ट न रहें, अपनी भौतिक उन्नति और प्रगतिके लिए प्रयास करें। दोनों ही बातें उत्तम हैं। अब रही बात सेठके नियतकी। वह एक सेठकी बात नहीं है, अधिकांशकी बुद्धि ऐसी हो रही है और वे इस प्रकारका मार्ग अपना रहे हैं। पृथक्-पृथक् भी और संघ-बद्ध होकर भी; परन्तु उनकी इस नियतके कारण ईश्वर, धर्म अथवा संकीर्तनका परित्याग नहीं किया जा सकता। आप अपनी बुद्धिके अनुसार ईश्वर-धर्मको मानिये। संकीर्तनका अनुष्ठान करवाइये। इसके साथ ही साथ गरीबोंको संगठनकी प्रेरणा भी दीजिये। वे अपने अधिकारके प्रति जागरूक हों। उन्हें औषध, भोजन, वस्त्र, आवास, शिक्षा, पदोन्नतिकी सुविधाएँ प्राप्त हों और बढ़ें—इसके लिए आप प्रयत्नशील रहिये। सेठकी बुरी नियत पूरी करनेमें आप मत लगिये और गरीबोंको सत्य, धर्म, ईश्वर, कर्त्तव्य आदिसे च्युत मत होने दीजिये। मेरे विचारसे आप जैसे व्यक्तिका-इस काममें लगना गरीबोंके लिए अहितकारी नहीं होगा। शेष भगवत्कृपा।

●

: २ :

विचारसागर एक पवित्र ग्रन्थ है।

सप्रेम नारायणस्मरण।

१. 'चिन्तामणि'के फरवरीके अंकमें 'मरमी सन्त दादूदयाल'की जो जीवनी छपी है, वह सर्वथा प्रामाणिक है। उसपर महामहोपाध्याय श्रीगोपीनाथ कविराजकी सम्मति है। लेखक एक उच्चकोटिके विद्वान् हैं। उसमें भूलसे श्रीनिश्चलदास जीका नाम छूट गया है। वे स्वयं ही विचारसागरके सातों तरंगोंके अन्तमें अपने गुरुदेव दादूदयालका स्मरण करते हैं।

२. श्रीनिश्चलदासजी महाराजकी जीवनी पं० पीताम्बरजीकी टिप्पणी-वाली भूमिकामें लिखी गयी है। परमहंस निगमानन्दजी द्वारा शोधित एवं सम्पादित विचारसागरमें दादूपंथके एक विद्वान्ने उनका एक विस्तृत परिचय दिया है। वे जन्मसे जाट थे और किसी तत्कालीन पण्डितने उनका विरोध भी किया था।

३. आपको किसी कट्टरपंथीने विचारसागर पढ़ना धर्मविरुद्ध बताया, सो उसकी बातपर आप ध्यान मत दीजिये। उसके स्वाध्याय और मननसे लाभ उठाइये। तामिलनाडुके एक दण्डीस्वामीने विचारसागरका बहुत ही श्रेष्ठ संस्कृत अनुवाद किया है। उसपर काञ्चीकामकोटि-पीठाधिपति शंकराचार्यका शुभाशीर्वाद और शुभ सम्मति भी छपी हुई है। उसीके आधारपर दण्डीस्वामी श्रीअनन्तानन्दजी सरस्वतीने हिन्दीमें 'सप्रमाण विचारसागर' उपस्थित किया है। उसपर सुमेरुपीठाधिपति श्रीशंकराचार्य महेश्वरानन्द सरस्वतीका एवं अन्य विद्वानोंका आशीर्वाद छपा हुआ है। श्रीकरपात्रीजी महाराजके द्वारा उसपर एक उत्तम कोटिकी वेदान्तार्थप्रकाशिनी भूमिका लिखी गयी है जो 'चिन्तामणि'के मईके अंकमें 'जिज्ञासाकी आवश्यकता' शीर्षकसे छापी जा रही है। इसीसे आप समझ सकते हैं कि श्रौत-स्मार्त धर्मविद्, ब्रह्मनिष्ठ महापुरुषोंके द्वारा वह ग्रन्थ कितना समादृत है।

४. श्रीमनोहरदासजीके विचारसागर-दर्पणका भी मैंने अवलोकन किया है, उत्तम ग्रन्थ है।

५. किसी-किसी संस्करणमें विचारसागरके कुछ अंश निकाल दिये हैं; वह वेदान्त-सिद्धान्त, ग्रन्थ, उसके कर्ता और जिज्ञासुओंके साथ अन्याय है। और श्रुति-शास्त्र-सम्मत 'तदधिगमाधिकरण'के ठीक हृदयंगम न होनेका फल है। ●

६. आपके पत्रसे ही ज्ञात होता है कि आपने इस ग्रन्थका अच्छा अध्ययन किया है, अन्यथा निकाल देनेवाले अंशका आपको पता ही न चलता।

आप खूब आनन्द, प्रेम और लगनके साथ विचारसागरका स्वाध्याय कीजिये और 'वृत्तिप्रभाकर'से भी लाभ उठाइये।

: ३ :

क्या नास्तिक हिन्दू नहीं हैं ?

सप्रेम नारायणस्मरण।

नास्तिकता एक विचार-धारा है। यह अनादिकालसे विचारोंके मस्तिष्कको आन्दोलित करती रही है। कोई भी प्रबुद्ध-समाज किसी विचारधाराका बहिष्कार नहीं कर सकता। दार्शनिकोंमें प्रथम गणना चार्वाककी ही है। वह देहातिरिक्त आत्मा अर्थात् पुनर्जन्म, परलोक एवं चैतन्य-सत्ताको स्वीकार नहीं करता। प्रत्यक्षातिरिक्त प्रमाण भी नहीं मानता। वाक्य-प्रमाणको नितान्त असंगत कहता है, फिर भी यह भारतीय दर्शनकी धारामें प्रथम स्थान रखता है। इसके पास प्रमाणाभास और अनुभवाभासकी न्यूनता नहीं है। ऋग्वेदके दो मन्त्रोंमें ईश्वरको न माननेवालोंका स्पष्ट उल्लेख है। 'नैषो आस्तीत्येनम्० (२।१२।५)'। 'नेन्द्रो अस्तीति०'। कठोपनिषद्से ज्ञात होता है कि मरणानन्तर आत्माके सम्बन्धमें दो मत अनादि हैं—'**अस्तीत्येके नायमस्तीत्येके**' कोई कहते हैं कि मरणोत्तर आत्मा है और कोई कहते हैं—नहीं है; इसी आधारपर पाणनीय व्याकरणमें आस्तिक एवं नास्तिक शब्दकी निष्पत्ति होती है। वेदान्तके अनेक उच्चकोटिके ग्रन्थोंमें इस मतका उत्थान भी तैत्तिरीयोपनिषद्के '**अन्नरसमय पुरुषवाद**'से ही माना है। श्रीकरपात्रीजी महाराजने अपने संस्कृतग्रन्थ '**समन्वय-साम्राज्य-संरक्षणम्**'में पुत्र-कलत्र-वित्तादि रूप षष्ठ कोषसे विरक्त करनेके लिए इस मतको भी वेदान्त-चिन्तनमें उपयोगी माना हैं और समन्वित किया है। इसलिए नास्तिक्य-विचारधाराकी जननी भारतभूमि नहीं है—ऐसा कहना अज्ञान और संकीर्ण दृष्टिका द्योतक है। जैन और बौद्ध मरणानन्तर आत्माका अस्तित्व तो स्वीकार करते हैं, परन्तु वेद और तदनुकूल शास्त्रको वे प्रमाण नहीं मानते और एक ईश्वरको भी स्वीकार नहीं करते। बौद्ध निर्वाणमें आत्माका उच्छेद मानते हैं और जैन वृद्धि-अपक्षयको वास्तविक

मानते हैं। ईश्वरकी सत्ता स्वीकार नहीं करते हैं; फिर भी ये सब हिन्दू ही हैं। भारतीयोंने कभी विचार-स्वातन्त्र्यका तिरस्कार नहीं किया।

कोई भी मतवाद केवल पूर्वपक्ष होनेसे ही अभारतीय नहीं हो जाता। न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग और पूर्वोत्तर मीमांसामें भी परस्पर पूर्वोत्तर पक्ष हैं और सभी अपना मण्डन और दूसरोंका खण्डन करते हैं। द्वैती-अद्वैती भी परस्पर पूर्वपक्षी कहते हैं। ऐसी अवस्थामें नास्तिक दर्शनने ही ऐसा क्या अपराध किया है कि उसे भारतीय न माना जाय। इसलिए हिन्दू-समाजमें नास्तिकका भी सन्निवेश है। नास्तिक किसी धर्म-सम्प्रदायका अनुयायी नहीं होता; इसलिए वह किसी भारतीय आचार्यके द्वारा प्रवर्तित धर्मका अनुयायी भी नहीं है। वह केवल भारतीय होनेसे ही हिन्दू है और उसकी चिन्तन-धारा भी भारतीय ही है। आपके प्रश्नका सीधा-सादा उत्तर यह है कि नास्तिक-चिन्तन-धारामें तरंगायमान भारतीय भी हिन्दू ही है।

शेष भगवत्कृपा।

:४:

प्रेतात्मा और शास्त्र

सप्रेम नारायणस्मरण।

शास्त्रोंमें प्रेतात्माका वर्णन है। शास्त्रोंके द्वारा उसका खण्डन करना उचित नहीं है। प्रत्यक्षादि प्रमाणों और युक्तियोंसे यदि उनकी सिद्धि होती तो उनके द्वारा खण्डन भी किया जा सकता था, परन्तु ऐसा नहीं है।

अब लीजिये दूसरी बात। शास्त्रसे प्रेतात्माकी सिद्धि होती है परन्तु प्रेतात्मासे शास्त्रकी सिद्धि नहीं होती। प्रेतात्मा प्रमेय हो सकता है, प्रमाण नहीं। जो लोग प्लेनचट या किसी मिडियमके द्वारा प्रेतात्माका आवाहन करके शास्त्र बनाते हैं, वह प्रामाणिक नहीं है। कई बार विद्वान् प्रेतात्माके स्थानपर मूर्ख और पाखण्डी प्रेतात्मा भी आ जाते हैं। जो मुक्त हो जाते हैं या वैकुण्ठके धाममें चले जाते हैं, वे महात्मा कभी नहीं आ सकते। कई धूर्त धोखा भी देते हैं। असलमें ये सब मानसिक शक्तियोंके चमत्कार हैं। हमारे एक मित्र हैं, उन्होंने अपनी मानसिक शक्तिसे जीवित व्यक्तिकी आत्माको बुलाकर बात करा

दी। उच्चकोटिका मन अपना एक मण्डल बना लेता है और उसके अन्तर्गत रहनेवाले लोगोंको जान लेता है। वह जड़ पदार्थका भी संचालन कर सकता है। दूसरेके मनको मूच्छित कर सकता है और किसी व्यक्ति या वस्तुमें आविष्ट होकर उसका संचालन कर सकता है। इसमें अन्तरसे अन्तरतम वस्तुओंका ज्ञान भी हो सकता है; परन्तु शास्त्र जिस अतीन्द्रिय और मानसातीत वस्तुका वर्णन करता है, वहाँ तक इसकी पहुँच नहीं है। यही कारण है कि लोग महर्षियोंको आत्माके नामपर अपनी मति-रतिका प्रकाशन करते हैं, थोड़े ही दिनोंमें आधुनिक विज्ञानके द्वारा उसका खण्डन हो जाता है। भारतवर्षमें एक बड़ी संस्था प्राचीन महर्षियोंके नामपर अपने मनोराज्यका प्रकाशन करती थी। शास्त्रके विद्वान् उसका बड़ा ही तिरस्कार करते थे और उसके साथ सम्पर्क नहीं रखते थे। दिनोदिन उसके चमत्कार क्षीण होते गये और संस्था भी सिमटकर अपने आपमें खो गयी।

अब एक संस्मरण सुनिये। गीताप्रेससे श्री रामचरितमानसका प्रकाशन होना था। शुद्ध पाठकी खोज हो रही थी। एक प्रेतात्मावाहनमें प्रसिद्धिप्राप्त सज्जनने गोस्वामी तुलसीदासजीकी आत्माका आवाहन किया। गोस्वामीजीकी तथाकथित आत्माने मानसके अनेक प्रसंगोंको जो कि बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, अपनी रचना माननेसे इनकार कर दिया। आवाहक सज्जनके मतके विपरीत जितनी दार्शनिक बातें थी, वे सब प्रक्षिप्त कह दी गयीं। 'कल्याण'का सम्पादन विभाग घबरा गया। उन सज्जनके चले जानेपर एक दूसरे आवाहक बुलाये गये। उन्होंने भी गोस्वामीजीकी आत्माको बुलाया। पता नहीं, वे मुक्तिसे लौटकर आये थे या साकेतसे; परन्तु उन्होंने कृपापूर्वक उन सभी प्रसंगोंको अपनी रचना बताकर आश्वस्त कर दिया। सबको सन्तोष हुआ और प्राचीन प्रतियोंके अनुसार पाठका निर्णय किया गया। परोक्ष वस्तु प्रमाण नहीं होती, प्रमेय होती है शास्त्र की।

संक्षेपमें, आपके प्रश्नका उत्तर यह है कि प्रेतात्माओंके द्वारा शास्त्रका निर्माण करवाना धर्म-विरुद्ध है।

शेष भगवत्कृपा।

कर्मयोग

[गीताका तीसरा अध्याय]

मूल्य : चार रुपये मात्र

प्रवचनकर्ता :

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

प्रकाशक :

सत्साहित्य-प्रकाशन-ट्रस्ट

'विपुल'

२८/१६ रिजरोड, बम्बई-६

PUBLISHED BY

Satsahitya Prakashan Trust

Vipul

28/16 Ridge Road

BOMBAY—6 (W. B.)

Self-Effulgent Bliss Divine

— *by* —

Swami Akhandananda Saraswati

All living beings desire happiness—such happiness which will be obtainable always, everywhere and from every one, for which no exertion is necessary, not dependant on other and which should remain perceptible. It is amazing that despite the ideal being so supremely ambitious, there is no uniformity of opinion in the means of obtaining it. Some believe that after reaching a particular place they will be happy; some are trying to create a special environment; some are engaged in obtaining certain object; some are busy in the glory of social work; some with folded hands are begging happiness from others; some are trying to make themselves unconscious. As many individuals so many opinions, as if the well has been admixed with an intoxicant.

For happiness should we enjoy or control ? Renounce or amass ? Work or retire ? Dance and jump or go into trance ? Remember some one or forget everybody ? To be conscious or unconscious ? It is clearly seen that people desiring happiness are hopeful and diligent by putting themselves in different states mentioned above. What is its *raisond' etre ?*

Because the correct and true nature of the ideal happiness is not exactly determined, people are occupied with temporary incomplete laborious and dependant state etc., with the delusion of obtaining happiness and instead of peace, they are experiencing exhaustion and weariness. In limited space, time and object with limited individual and labour, in limited mentation and 'ego' limitless or infinite happiness cannot be obtained. Finite is incapable of experiencing infinite.

Is then endless labour itself ideal happiness ? No, No; Rest is the reaction of labour, may be it is sleep or trance. Then for our ideal happiness whose door shall we knock ?

Certainly, the true nature of the ideal has not been profoundly grasped. Come on ! Let us once separate 'now', 'here' and 'this' from always, everywhere and all. Leave off labour and begging. Let us find out whether happiness is felt or not. I it is not felt meaning that it is not 'now', 'here' and 'this', then how can it be always everywhere and in all things ? Then it will not also be accomplished as effortless and independant. Definitely there is an error in comprehending our ideal happiness. We are demanding happiness which should always remain but do not accept that it is present now or earlier, demanding it to be everywhere but not recognising it to be directly present here, demanding it as accomplished and for which labour, state and grace is hoped and expected. This is the sport of intellectual contradiction, unclear reasoning or delusion. For ideal happiness this alone has to be removed.

Really we seek perceptible happiness, as happiness has no invisible existence. Whenever it is present, it is direct and experiencial. The meaning of experience is not as a result of evidence and its conclusion but witness-perceived experience. Despite witness itself being of the form of happiness, due to ignorant behaviour, meaning not recognising itself to be awareness (Brahman), it enlightens happiness in the form of the other. Because of this it believes in changes of happiness according to changes in perceptible states and identifying with dream behaviour or waking, it believes itself to be sometimes happy and sometimes miserable.

It is worth enquiring whether we are not believing a particular state of mind either with object or without to be itself happiness. If it is so, then that particular state will be conditional, related to time and space. For this reason perception of happiness from particular state will be a delusional accomplishment. The import of this is that the ideal happiness for the individual is not of any worldly from but comple-

-tely bereft of it. Only such happiness can remain indestructible, unchanged and complete, despite changes in forms due to space, time, in presence or absence of objects and in the terrible dance of creation. Philosophically happiness is only a perception of divine (Brahman). The momentariness of the relative happiness can not cause the perception of the divine bliss to be transient. Because momentariness is the object of perception, and happiness is of the true nature of perceiver (Awareness), timeless, spaceless and objectless. Meaning of this is, awareness is divine (Brahman), indestructible. existent, all-illuminating, absolute knowledge and it is the ideal blissful consciousness of all living beings. This bliss of consciousness by itself is in no way concerned with time, place, state, shape, with effort or effortless. obtained from someone or not so obtained, consciously or unconsciously, perceived with form or formless. All these perceptions are not at all different from consciousness itself, neither are they the effects. They are apparent modification (Vivarta) because of their opposite behaviour to the essential nature of consciousness. But truly all that consciousness is divine (Brahman) in nature only.

What is supreme consciousness ? Supreme knowledge. In knowledge, there is excellence or its supremacy is its purity. In common parlance, the word knowledge is used in conjunction with knowable and knower only. Object of knowledge is knowable and its claimant is the knower. knowable is the earthern pot and knower is the living being. knowledge is the connecting link between the two. Here the word knowledge is used as meaning evidential or instrumental. Really, because the same consciousness underlying knower, knowledge and knowable being one only, pure or supreme knowledge alone is practically used in three different forms and names. Relatively alone duality or triad exist, not in the Absolute or Divine Spirit. To irradicate these, the word knowledge is relatively used in the conceptual form of non-duality, In the practical world there can never be such knowledge whose object in some form or other is absent and whose claimant is

similarly absent. Though, philosophically even in the mixed state, knowledge is pure only. but without the eradication of ignorance. falsity of duality is not established and solitariness is hidden. In the state of ignorance, this perbeived triad in knowledge is the super-imposed impurity, To irradicate this impurity, it is necessary to ascertain the pure and true nature of knowledge (Consciousness). Really knowledge is not related to knowable. Knowledge even enlightens the absence of knowable. Absence of knowable is not apart from the ground or substratum (Consciousness). Its separateness endures till the ignorance of the substratum endures. Knowable and knower are related or dependant on each other. Because whenever there is knowable then there must be some knower. Knowledge (Consciousness) is not dependant upon knowership. Knowledge is the enlightener of even the absence of knowership, Awareness and knowledge (of triad) are also not inter-dependant, because awareness (consciousness) is only one. For this reason the self-effulgent knowledge which Is completely indivisible by knowableness and unknowableness, knowership and non–knowership and which is quite full in all these and which is the substratum of all these; this is not related with or dependant on any one. It is the enlightening ground of all differences. Let that difference be of space, time, species, genus, existing in itself, or of special knowledge or ignorance. For this reason the pure true nature of knowledge is bereft of the difference of knower and knowable. Here knowable means all the perceived objects and knower means indinvidual or Lord or both. Therefore, free from the distinctions of world, individual and Lord, bereft of any other enlightenment or ground for itself enlightener of false duality and hence light free from enlightenership is itself non-dual Brahman or Supreme knowledge. This is not even related to ignorance because it is its enlightener also. Ignorance is indescribable. It cannot be true absolutely nor untrue relatively. In the sub-sratum or ground consciousness it is imaginary in the form of veil or cover. Imaginary things do not produce any relation or

dependance in knowledge. Relative substance is false and non-related or non-dependance is true. This non-related truth is Brahman and this is designated as supreme consciousness in the Upanishads.

Now let us try to explain this subject in still simpler fashion. As this garland is in my hand, 'Garland' is knowable, 'eye' is the instrument of knowledge, 'me' the possessor of eyes is knower. Really, the ground consciousness of this divided knower is also that of the knowable. The sub-stratum of visual conception is also that same consciousness. Therefore, due to incapability of grasping the non-dividedness it is appearing in three different forms. Awareness of non-dividedness destroys the appearance of the triad of knower, knowledge and knowable. Therefore, supreme knowledge as ground consciousness is true and differences of divided knower, knowledge and knowable are attributed, false and mere appearance. All these garland, orange, clock, book appear separately; their instruments of knowledge viz. eye, skin, taste etc. appear separately and due to different claimants of the instruments different knowers are just appearing—all this is apparent modification in the non-dual supreme consciousness of the divine (Brahman). That which is merely an appearance seeming as separate consciousness due to differences of objects, instruments and knowers to be accepted as different bits of consciousness is a result of lack of thinking or ignorance. Not recognising the undividedness of supreme knowledge is ignorance. To accept ourselves and objects as divided is delusion. To iradicate this delusion the ascertainment of the substance of supreme knowledge is useful.

It is not proper to give the illustration of the rays of the sun to explain apparent separate triads in supreme knowledge of divine (Brahman). Because this is quite full substance while the Sun is a divided entity. The Sun remains in one place and is absent in the other. Therefore, where it is absent it sends its rays. Sometimes the sun is seen and sometimes not. In other place, its opponent is also present

in the form of darkness. Its manifestations as inanimate and animate are obvious. Under these circumstances there cannot be rays of supreme knowledge (Brahman) comparable to the rays of the sun and the moon which will move in space and time and touch other substance. Then what are these triads ? Definitely they are projections of consciousness or mental constructs. The enlightening consciousness for the purpose of enlightening in the absence of different objects and because of the unsuitability of enlightening undividedness and consciousness, it itself manifests in the reverse form to its true nature. Just as when the unlimitedness of the sky is incapable of being manifested by the eye, then the blue form which is the reverse of formlessness becomes apparent as a form, in a similar way our own Self being incapable of being an object appears in the form of opposite objects. The only reason for the appearance of conscious as material, imperishable as perishable, absolute as divided, non-dual as dual, Self as the other is this that Self supreme knowledge is not the object of comprehension. Whoever tries to make the supreme knowledge as object, he will make supreme knowledge as material and divided object only. Therefore, instead of becoming supreme knowledge it will only be its apparent modification. Hence, Upanishads after ascertaining supreme knowledge does nct instruct it as other but in the form of an enquiring student that you are supreme knowledge (Brahman). This is the reason why supreme knowledge is not realised as fruit of any religious performance, devotion, or mental control, neither as a result of auy instrument nor as our own perception. All means achieve success in negating their own negatable entities. So much so that even knowledge resulting from the illuminating sentences (Maha-Vakya) after eradicating ignorance simultaneously disappear or is invalidated and snpreme knowledge remains as before.

The concept of pervasion or pervasiveness in supreme knowledge is also imaginary. Tejobindu Upanishad clearly states that 'pervaded-pervading is false'. Take an illustrat-

ion to understand this-as past, future, present are pervading time as pervaded. How absurd it is that when past, future, present do not exist apart from time, then who pervades whom ? Really noting the results in objects and accepting the order, the triad in time is imagined. Neither the ground of this viz. time nor the enlightening consciousness are at all aware of this triad. This is the sport of human intellect. This intellectual sport in technical language is called superimposition. Let us take another illustration in impartite principle of space, east, west, north, south. above, below parts are entirely imaginary. In consciousness underlying the imagination of the space principle or in ground existence the very space divisions are uncalled for. In spite of this the objective divisions viz. length, breadth, shape, outer, inner of vessels and clothes etc., all are ideas imposed on the space principle. This is imputation of one on the other. Is there pervaded-pervading connection between space principle and east-west-outer-inner etc. ? Bless God ! with our true nature no substance is in no way connected, not even that of identity. with whom will the Absolute have identity ? Now, take the third illustration.in one non-dual impartite existence the divisions of space etc. is not in time, as it is not the effect; neither in motion as it is not action or space; neither is it natural, because it is not possible to explain production of a different thing naturally. It is not even of the nature of name and form, because they only come in during the transactions of proof, evidence and conclusion. So, in fact, apparent differences in time like present etc. or seeming differences in space such as east etc. are imagined as name and form in the primordial energy constituting as five elements and hence entirely unreal. To explain this point Upanishads, sacred books and seers give the illustration of rope-serpent or dream, In the enquiry of self, dream illustration is applied, in that of God (Tat) rope-serpent illustration and for explaining the oneness of these two (Self & God) no illustration is available. Therefore, to eexplain the all-pervasive nature of supreme consciousness (Brahman), it is

proper to state from the view-point of self-consciousness that dream objects appear in that space and time where aud when they are totally unreal. Similarly the seen phenomenon in the supreme consciousness is entirely false. In addition, just as in the space occupied by rope and during the time of appearance, the apparent serpent is false; similarly the indivisible conscious existence as the substance God (Tat), this seen phenomenon is false even during the time of appearance. After the determination of the falsity of the seen phenomenon there is no differentiating substance between self-consciousness and supreme Self as ground consciousness. In fact, difference is phenomenon and is seeen without becoming in the true state of supreme consciousness (Brahman). In supreme consciousness both the pervasiveness and pervadedness are relatively imaginary and merely pervasion absolutely.

In Vedantic thought one pervading the other is not called pervasion. Fire pervading iron or clarified butter pervading milk are not illustrations of real pervasion; because their pervasiveness is time-limited and action-limited. Real pervasion as that of the effect in the material cause. That in which after destruction of the effect it becomes one, meaning the substance from which the effect is formed, wherein the form is constructed, which is present in the effect in the form weight, that is called the material cause, viz. earth in pot, water in wave, fire in flame, air in vital force (prana), house-space in general space, dream vision in dream. In pot-earth illustration earth is not the only material but all the five elements. Therefore in the sound, touch, sight, taste and smell of pot in all these five elements are present, Pot is not apart from five elements. Five elements remain even after breaking of the pot. Similar is the case in wave, flame etc. to be understood. Perception material as dream and rope as serpent are illustrations of effect due to the ignorance of the substratum. Even they are not apart from the material cause. In spite of all these illustrations being useful in explaining pervasion of supreme consciousness they do not

exactly explain pervasiveness. Because all these illustrations are related to objects or matter. Supreme Awareness is Consciousness per se (Spirit or Eternal Subject). Whenever consciousness or spirit is the material cause, there it is really free from the differences of couse and effect.

For this reason the pervasion of consciousness constituting absence of other substance is its Absoluteness.

Cause-effect form pervaded pervading idea is obtained only in the seen and not in their enlightener and ground consciousness. Therefore spatial effect, time effect and affectness in substance—three cannot be connected with supreme consciousness. The ground enlightener of the absence of space, time and causality is supreme consciousness. Space, time and substance enlightened by supreme consciousness, because they are the opposite of their absence in the substratum are false. Due to their being seen, transformed and divided also they are not independant, indestructible and full. Under these circumstances, when where and in what form the enquiry should be done to realise supreme consciousness ?

It is surprising that for searching supreme consciousness we desire for some-time, state and circumstance; because when it is indestructible there is no part of time which is from it. In past, future and present form, also free from the imaginary triad it is full. By it this triad is enlightened. This cannot even imagine in it self its death, chang, absence and birth; because it is their witness and enlightener. Then why is it not realised in the sub-stratum of each moment ?

Surprisingly enough, despite it being free from any connection with objective changeable spatial concepts and ideas, free from interior, exterior, intermediate triad, despite being the substratum and enlightener of this triad of imaginations, despite free from inward-lookingness, outward-lookingness etc. spatial states, circumstances as also going, not-going, atomicity, all-pervasiveness, intermediate proportioness etc., why is it not realised as enlightener in this space time and in the sub-stratum of this spatial limitedness; when it never

imposes on itself at any time incompleteness, limitedness; etc., because it is the witness consciousness only of presence and absence of space. Where is the waiting and necessity of entering the uttermost silence of inner region ? Why is it not perceived and searched right in this space ?

It is surprising that in this very spacc, time, with whatever form, change, type, tendency is being experienced in objects; these in their entirety are appearing as apparent modification in the causal ground consciousness enlightened by itself, in spite of being non-different really; why do they appear as objects of intellect ? When it is indestructible full non-dual conscious existence, free from space time in the form of all. One who has never experienced himself to be united with subject-object relation, because subject and object in spite of their appearing as different are not so; in this factual state when there is no other; for its realisation where is the necessity of proof-conclusion practically ? If it was an object like pot then visibility, if it was distant like God then inference, if it was some other similar then example, if it was unknown then statement of reliable authority was necessary. But for the realisation of this supreme consciousness which is the ground of all, enlightener of all, self-effulgent; what instrument is necessary; which new instrument is to be prepared when it never experiences any object at any time as different from itself nor is it the object of experience of anyone else.

Of all surprises, this is the greatest that we try to obtain this supreme consciousness in trance etc., in particular time, in particular space such as Brahma-loka etc. and particularised state of form of intellect or mind. In elevation or motion space, in dissolution of mind, time, and in transcendance. supercession or invalidation of particular object in becoming one mentally with it; not being appliceable in case of realisation of supreme censciousness; all these methods cannot be direct means. As was formerly explained while describing supreme consciousness, the best method to realise it is to obtain the true meaning of Self. Because in it are clearly perceived its contrary characters to the nature of time as death, change

etc., nature of space as interior exterior etc., and perceivability of objects etc. Nobody can ever experience his own absence, non-intelligence or absence of love for himself. For this reason in order to realise supreme consciousness in bliss form it is necessary to concentrate on Self as supreme consciousness instead of imagining it as blissful in any time or object form.

What is this Atman as the true meaning of self? For investigating it attention should be bestowed on the common usage and application of the world self. Meaning, what is that entity for which we use the word 'I'? It is essential for us to contemplate on this subject. Then we shall realise our aim when we start our enquiry from where we are, when we are, what we are. For this purpose we shall have to examine in gross, subtle and causal bodies, in waking dream and sleep states, in those exact perceived circumstances wherever we utilise the term 'I' 'I', whether really there is 'I' or not. If the word 'I' is being utilised with undetermined meaning then necessarily it is being used as visible 'I' or distant 'that'. Definitely the use of the word 'I' in this case would be with inexact meaning. And then we shall not be able to recognise even waking, dream and deep sleep states. The Self in its true form which is contrary to all those, it's a different story altogether. Before this individual five covering have to be discriminated. Then waking state in one body does not remain as our waking state but we go a step behind and obtain ourself as the ego of the entire waking state. Vedantic enquiry starts from this discrimination of three states and knowing our true nature in the form of Turiya (Fourth, witness of there states) as supreme consciousness we become free from ignorance and its results. Therefore here states are considered in order. At this time when seated in human body the enquiry, investigation and search is being done on the meaning of the word 'I' and with the outer and inner instruments of the gross body being utilised, it is obvious that it is the waking state. During this state when the individual human being is using the 'I' 'I' term for this body.

Fat-lean, black-fair, tall-stunt etc. are the many bodily characters imposed on himself and believes himself to be the body. The same person believing actions performed by the organs of actions claims as the doer of meritorious and evil deeds. The nature of ego is that I am doer, walker, speaker. When it believes to be the possessor of the organs of knowledge it claims that I see, hear, taste etc. and believes himself to be the knower and enjoyer. Superimposing the actions done by outer and inner organs and identifying with their results or failure, in spite of being himself emancipated, he believes himself to be consequently happy or miserable. Impressions or tendancies are formed according to action and knowledge. According to tendancies ideas arise and according to ideas action is done. This circle goes on through life and is the cause of life after life and death after death. If this is the real state then the individual doer and enjoyer will perpetually remain a wordly creature, and will never be free from the circle of birth and death. This current of birth and death is called worldly existence and 'I' fallen in this is called a worldly creature. Now, we have to determine doer due to adjuncts of organs of action, enjoyer due to adjuncts of resulting ideas and worldly creatrue due to adjuncts of birth and death. What is this person (Jiva) really ? If he was really separate, then action, special knowledge, happiness and misery etc. and his fallen state in this worldly current would be a simple thing and effort to be emancipated futile. But this separateness has been accepted unthinkingly without enquiry or experience. Therefore, it is essential to remove this blindly accepted belief or unthinking ignorant acceptance by pursuit of knowledge of Truth. knowledge of Truth— knowledge of identity of individual consciousness with Supreme consciousness, without which this eradication is not possible. Therefore effort to accomplish it is necessary.

AWARENESS

H. K. Aggarwal

We are aware of the things around, but we are not aware of the self because of which we see and do all the things. Awareness is consciousness of the thoughts arising in the mind. When we become aware of the thoughts and detach ourselves, the thoughts lose their strength. Our identification with the thoughts is the strengthening force to the thoughts and when we witness the thoughts, the identification is relaxed. With the result, thoughts lose their importance and wane away in the course of time.

Thoughts arise only when we are unaware of them. The moment we become aware of them, thoughts do not remain as thoughts and we attain the state of thoughtlessness. The awareness still continues as it was before but formerly we were aware of thoughts arising in the mind and now we are aware of the state of thoughtlessness.

Between the two thoughts consciousness prevails, because thoughts arise in consciousness only. But since we are unaware of the continuous presence of our consciousness, we are lost in the web of thought-process. The moment we become aware ot the thoughts arising in the consciousness and witness the growth and dissolution of thoughts, there takes place a natural detachment. With the attachment severed from the thoughts, the thoughts lose their value. Thoughts after thoughts arise only when we are completely ignorant of what is taking place in our mind.

Mind is shapeless and formless, having no weight, measure or colour. Mind is merely a bundle of thoughts. Thoughts determine the state of mind. As the thoughts are, so the mind is. Mind is the product os the thoughts and man is sw-what

his mind is. Good thoughts make one man good and bad thoughts make the other bad. Sometimes, however, bad thoughts arise even in the minds of good men and similarly good thoughts arise in the mind of bad men. To witness the mind is to witness the thoughts arising in the mind. If we are witnessing the thoughts, we are then witnessing the mind, as such. For mind has no independent existence other than the thoughts. Therefore to be aware of them is to be aware of the mind.

The technique of witnessing the mind is simple. It is not limited or confined to any religion, sect, caste creed. It is universally acceptable principle in all religions. Man of any religion can attain the state of thoughtlessness by becoming aware of his mind. Men in different countries and religions may have differences in their thoughts and feelings, but so for as witnessing is concerned there is no difference between any two men. We can be a witness to good or evil thoughts, eastern or western attitudes, narrow or broad outlook and feelings. Thus the minds and their thoughts can differ but not the witness, who impartially and closely witnesses all the thoughts and feelings arising in the mind.

One who identifies himself with the witness begins to look at the thoughts arising in the mind dispassionately. This enables him to strip his mind of all the thoughts and attain the state of thoughtlessness. For mind when stripped of the thoughts becomes a quietened mind and a perfectly silent SEER. It is this silent mind that cxperiences the of pure consciousnees, full of Bliss, Which is known as Awareness.

"ॐ भूरसि भूमिरस्यदितिरसि
विश्वधाया विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री ।
पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृंह पृथिवीं मा हिंसीः ॥"

—यजुर्वेद २२।२२

"हे बड़ी माँ ! तुम सम्पूर्ण सुखोंकी दाता हो । तुम्हारा स्वरूप विशाल है । तुम स्वयं देवता हो और देवताओंकी माता हो । तुम सम्पूर्ण विश्वको अपने उदरमें धारण करती हो और उसका भरण-पोषण करती हो । सब प्राणी तुम्हारी गोदमें रहकर तुम्हारा ही दूध पीते हैं । तुम अपनी विशालताको और बढ़ाओ, अपनेको और दृढ़ करो और अपने-आपको कभी क्षीण मत करो ।"

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्दात्मा यत्परं ब्रह्म भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥

—श्रीरामोत्तरतापिन्युपनिषत्

तुलसी - मानस - प्रकाशन की उपलब्धियाँ

★

१. संसार का सार (मू. रु. ३) आधुनिक खेलों, वैज्ञानिक साधनों जीव-जन्तुओं, वनस्पतियों आदि के द्वारा अध्यात्म शिक्षा का विवेचन।

२. ज्ञान साधना (मू. रु. २) लोनावला शिविर में पधारे हुए महापुरुषों द्वारा ज्ञानसाधना के प्रति संकेत।

३. विज्ञान से ज्ञान (मू. रु. १) ऐक्सरे इत्यादि आधुनिक उदाहरणों को लेकर अध्यात्मविद्या नवयुवकों तक पहुँचाने का सफल प्रयास।

४. वेदान्त नवनीत (मू. रु. १–५०) सन् १९६४ के अमृतसर के वेदान्त सम्मेलन में पधारे महात्माओंके प्रवचनों का सार।

५. वेदान्त का सरल बोध (मू. रु. १) वेदान्त के क्लिष्ट ग्रन्थों के सिद्धान्त बड़े ही सरल उदाहरणों में।

६. आध्यात्मिक पिक्टोरियल (हिन्दी व अंग्रेजी) (मू. रु. ३) ज्ञान की गम्भीर बातें सूत्र तथा चित्र द्वारा प्रस्तुत।

७. मुमुक्षु आध्यात्मिक उपन्यास (मू. रु. ५)।

८. मन की शान्ति (पद्य) (मू. रु. ४) अंग्रेजी मूल रचना 'पीस आफ माइण्ड' का अनुवाद।

९. हमारी परम्परा (मू. रु. २) हमारी ऋषि-परम्परा क्या है और उसे जीवन में किस प्रकार उतारा जाय ?

१०. आराम सुख शांति और आनन्द (मू. ५० पैसे)।

११. अपनी ओर इशारा (मू. १ रु.) अपनी ओर आने के सूत्र रूप इशारे।

१२. आध्यात्मिक डायरी (मू. ५ रु.) सचित्र और दार्शनिक सूत्रों से परिपूर्ण दैनंदिनी।

१३. व्यावहारिक जीवन में परमात्मा (मू. ५० पैसे)। और

आध्यात्मिक मासिक

मनन

प्रति मास भारत के उच्चकोटि के विद्वानों के लेख एवं प्रख्यात संत-महात्माओं की अनुभव-पूर्ण वाणी का संकलन।

एक प्रति ४० पैसे

वार्षिक ४) रु. दो वार्षिक ७) रु. तीन वार्षिक १०) रु.
चार वार्षिक १२) रु. और पाँच वार्षिक १५) रु.

प्राप्ति-स्थल :

तुलसी - मानस - प्रकाशन, गुप्ता मिन्स एस्टेट, रे रोड, बम्बई–१०

खटाऊ
वॉयल्स
की
ख़रीदारी
खटाऊ वॉयल्स की ख़रीदारी करने में जो
मज़ा आता है वह और किसी में नहीं।
तरह तरह के रंग, प्रिन्ट्स और स्टाइल में
बहुरंगी वॉयल्स की कतार लगी होती है।
इतनी कम कीमत में इतने सारे वस्त्रों में से
चुनने का अवसर आपको केवल खटाऊ
ही पेश कर सकते हैं।
दि खटाऊ मकनजी
स्पिनिंग एण्ड वीविंग कं. लि.
हेड ऑफिस:
लक्ष्मी बिल्डिंग,
बेलार्ड एस्टेट, बम्बई १.
मिल: हेन्स रोड,
भायखला, बम्बई २७.
होलसेल क्लोथ शॉप:
गोविंद चौक,
मुलजी जेठा मार्केट, बम्बई २.
रिटेल शॉप्स:
गणेश वाडी,
शेख मेमन स्ट्रीट, बम्बई २.
दलीप बिल्डिंग,
वीर नरीमन रोड, बम्बई १.
मिल प्रिमिसेस,
हेन्स रोड, भायखला,
बम्बई २७.
यह देखिए—एक निहायत 'दिलफ़रेब' वॉयल!
कितना आधुनिक और मनोरम है इसका
प्रिंट! 'तम्बाकू' रंग की कांती वाले कपड़े
तो इस वर्ष सर्वाधिक लोकप्रिय रहे हैं और
विभिन्न कांतियों का तो खटाऊ ने इस
वॉयल में खुल कर समावेश किया है।
किसी भी समय... किसी भी जगह... किसी भी मौके पर...
आप तो खटाऊ वॉयल्स में ही जंचेंगी।
खटाऊ
वायल्स

सत्साहित्य-प्रकाशनट्रस्ट, बम्बईके लिए विश्वम्भरनाथ द्विवेदी द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा आनन्दकानन प्रेस, सीके. ३६/२० वाराणसीमें मुद्रित